चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 16 अंक 3 जनवरी-मार्च 2019

सम्पादक
बी. बी. कुमार

संयुक्त सम्पादक
शिवनारायण

आस्था भारती
दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रूपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रूपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रूपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रूपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रूपए
अन्दर कवर	15,000.00 रूपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रूपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
19/804 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5
कश्मीर से जुड़ी समस्याएँ एवं उनका निदान

1. राष्ट्रकवि दिनकर का राष्ट्रवाद 7
महेन्द्र प्रसाद सिंह

2. रेणु : रिपोर्ताज के आईने में 16
कामेश्वर पंकज

3. राष्ट्र, शिक्षा, राजनीति : भारतीय परिप्रेक्ष्य 21
ब्रजेन्द्र पाण्डेय

4. पाठक-विहीनता से शोकग्रस्त हिन्दी साहित्य 32
रमेश दवे

5. समकालीन संवेदना और रचनाधर्मिता 37
डॉ. श्रीराम परिहार

6. शब्द-साधना के स्वर्ण-शिखर : पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव 41
डॉ. शिवनारायण

7. समकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में चार्वाक 47
रूपेश कुमार सिंह

8. दास्योत्तर भारत : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में न्यायिक सक्रियता 51
प्रणव कुमार

9. नवजागरण, गाँधी और राष्ट्रभाषा 61
मनोज पाण्डेय

10. गाँधी की वाग्मिता 68
डी.एन. प्रसाद

11. भारतीय सांस्कृतिक बहुलता और पूर्वोत्तर की भाषाएँ 76
डॉ. हितेन्द्र कुमार मिश्र

12. असमिया शब्द निर्माण में विविध जनजातियों का योगदान 84
दिगंत बोरा

13. भूमंडलीकरण, हिन्दी साहित्य और सामाजिक परिदृश्य 90
हुस्न तबस्सुम 'निहाँ'

14. प्राचीनकाल में भारतीय राष्ट्र का निर्माण :
आदिशंकराचार्य के दिग्विजयों का ऐतिहासिक अध्ययन 95
डॉ. शोनालीका कौल

15. विकास से विनाश की ओर 101
माधुरी नाथ

16. टैगोर कला : आध्यात्मिक सृजन का अनन्त नाद 106
डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला

17. मन के स्तर पर स्वीकृति द्वारा ही सम्भव है वास्तविक अनुकूलन 113
सीताराम गुप्ता

18. पुस्तक-समीक्षा 118
आर्य, वैदिक सभ्यता और इतिहास 118
रवि शंकर

प्राप्ति-स्वीकार 117

पाठकीय प्रतिक्रिया 121

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

कश्मीर से जुड़ी समस्याएँ एवं उनका निदान

आजादी के बाद कश्मीर के महाराजा हरि सिंह उसे एक अलग राज्य के रूप में देखना चाहते थे। जहाँ दूसरे राज्य भारतीय संघ में मिलते गए, अभिन्न भारत के अंग बनते गये, वहाँ जम्मू-कश्मीर, हैदराबाद, जाम नगर, भोपाल आदि कुछ राज्यों ने इस कार्य में अडंगा लगाने की नीति अपनायी। हैदराबाद में तो सेना भेजनी पड़ी; जम्मू-कश्मीर में पाकिस्तानी कबीलाइयों का आक्रमण हुआ। लाचार होकर महाराजा हरि सिंह ने विलय पत्र पर हस्ताक्षर कर दिया। इधर भारतीय सेना कबीलाइयों को भगाने में लगी थी, लेकिन पंडित नेहरू इसे संयुक्त राष्ट्र में ले गये और समस्या लगातार बनी रही।

इस समस्या से जुड़ा एक पहलू शेख मोहम्मद अब्दुला की महात्वाकांक्षा से भी जुड़ा था। उन्होंने कुछ ऐसा किया कि कश्मीर घाटी की जनसंख्या जम्मू एवं लद्दाख से अधिक हो गयी; कश्मीर का प्रतिनिधित्त्व अपेक्षाकृत अधिक हो गया; कश्मीर के लिए अलग संविधान, अलग झंडा एवं विशेषाधिकार दिलाये गये। इन्हीं विशेषाधिकारों में संविधान की धारा 370 एवं अनुछेद 35ए भी शामिल था। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि धारा 370 अस्थायी धारा थी, जिसके विषय में पंडित नेहरू ने कहा था कि यह धारा घिसते-घिसते घिस जायेगी।

यहाँ इस बात का उल्लेख जरूरी है कि इस धारा का कोई लाभ कश्मीर को नहीं मिला। एक तरह से यह धारा स्वतंत्र भारत में हिन्दू और मुसलमानों को दो राष्ट्र मानने की गलत मान्यता देती थी। दुर्भाग्यवश यह धारा 70 वर्षों तक चलती रही और आज इस देश के कुछ नालायक राजनीतिक नेता इसे हटाये जाने पर गलत बयानबाजी करते दिखायी दे रहे हैं, जिसमें राहुल गांधी जैसे लोग भी शामिल हैं। क्षुद्र राजनीति की राह चलते हुए गुलाम नबी आजाद तथा उनके साथी यह भी समझ नहीं पाते कि वे अपने गलत बयानबाजी के चलते पाकिस्तान को फायदा पहुँचा रहे हैं। दूसरी तरफ मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्रीनगर जाने के लिए सुप्रीम कोर्ट की शरण ले रहे हैं। उनकी दलील है कि वे अपने बीमार साथी को देखने वहाँ जाना चाहते हैं।

आजादी के बाद देश का बंटवारा हुआ, तब इस देश में हिन्दू-मुस्लिम समस्या का अंत हो जाना चाहिए था। दुर्भाग्यवश ऐसा हुआ नहीं। हमारे राजनीति दलों ने वोट

बैंक की राजनीति के तहत समाज को बांटे रखने की प्रक्रिया चालू रखी। आज भी जो हो रहा है वह उसी प्रक्रिया का अंग है। अन्यथा कश्मीर की समस्या को हल किये जाने के लिए उठाये गये कदम हमें इस ढंग से उद्वेलित क्यों करते कि वे देश-द्रोही बयानबाजी से परहेज भी नहीं करते और हमारे पड़ोसी शत्रु देश को मदद पहुँचाने लगते हैं? स्थिति तब भयानक बन जाती है जब कांग्रेस पार्टी जैसे दल का मुखिया अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए निहायत मूर्खता-पूर्ण तरीके से राष्ट्रहित को तिलांजलि देकर ऐसा करता है।

— ब्रज बिहारी कुमार

•

राष्ट्रकवि दिनकर का राष्ट्रवाद

महेन्द्र प्रसाद सिंह*

यद्यपि महाकवि रामधारी सिंह दिनकर (1908-1974) अपनी काव्यकृतियों में विस्तृत मानवीय मनोभावों की अभिव्यक्ति सृजित करते हैं, इनमें दो भावनाएँ विशेषतः प्रमुख रही हैं। ये हैं राष्ट्र-प्रेम तथा नारी-सौन्दर्य व प्रोमानुभूति। *हुंकार* (1938) तथा *रसवन्ती* (1939) आरम्भिक दौर में तथा *उर्वशी* (1961) एवं *परशुराम की प्रतीक्षा* (1963) उत्तरान्तर दौर में मेरे उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। इस आलेख में मेरा उद्देश्य उनकी राष्ट्रवादी काव्य-धारा पर व्याख्यात्मक टिप्पणी करना है।

मेरे जीवन में दो सर्व-प्रमुख कवियों में दिनकर और हरिवंशराय बच्चन (1907-2003) रहे हैं। दोनों समकालीन तथा मित्र थे। बच्चन का मुख्य काव्यानुराग, शृंगार और प्रेम के क्षेत्र में हुआ है और 'हालावाद' के नाम से जाना जाता है। छायावादोत्तर काल के सर्वप्रमुख नक्षत्र यही दोनों महाकवि माने जाते हैं।

दिनकर की प्रथम प्रमुख काव्यकृति *रेणुका* (1935) मिश्रित अनुभूतियों का काव्य-संग्रह है। लेकिन इनमें राष्ट्रीय भावना भी शामिल है। इस ग्रन्थ में दिनकर उदारवाद तथा साम्यावाद के कशमकश में ग्रस्त दिखते हैं। एक कविता में तो लेनिन की क्रान्ति का स्वर भी सुनाई पड़ता है : 'लेनिन के दिल की चिनगारी, जाग-जाग, ओ क्रान्ति कुमारी!'

यह द्वन्द्व 1930-1940 के दशकों के अन्त तक दिखता है। यह *हुंकार* (1938) से *सामधेनी* (1939) तक व्याप्त है। उदारवाद के अंगीभूत तत्त्व व्यक्तिवाद की 'अभिव्यक्ति *हुंकार* की' के एक काव्यांश में देखें :

'तुम एक अनल कण हो केवल,
अनुकूल हवा लेकिन पाकर,
छप्पर तक जा सकते उड़कर,

* महेन्द्र प्रसाद सिंह, पूर्व-आचार्य, राजनीति विज्ञान, दिल्ली विश्वविद्यालय, सम्प्रति, नैशनल फेलो, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ ऐडवांस्ड स्टडी, शिमला

जीवन की ज्योति जगा सकते,
अम्बर में आग लगा सकते,
ज्वाला प्रचण्ड फैला सकती है,
छोटी-सी चिनगारी भी।'

हुंकार की एक अन्य कविता 'दिगम्बरी' में उदारवाद में परम्परा एवं परिवर्तन को समन्वित कर लेने की प्रवृत्ति देखें :

'पुरातन और नूतन बज्र का संघर्ष बोला;
विभा-सा कौंध कर भू, का नया आदर्श बोला;
नवागम रोर से जागी बुझी ठण्डी चिता भी,
नई शृंगी उठा कर वृद्ध भारतवर्ष बोला!'

उदारवाद के आदर्श के रूप में स्वतन्त्रता एवं समानता *हुंकार* में सर्वत्र व्याप्त दिखती है। क्रान्तिकारी प्रगतिवाद भी उपस्थिति रहता है। *हुंकार* की एक कविता 'चाह एक' से एक उदाहरण लें :

'स्वातन्त्र्य, पूजता मैं न तुझे इसलिए कि तू सुख-शान्ति रूप,
हाँ, उसे पूजता जो चलता तेरे आगे नित क्रान्ति-रूप।'

हुंकार की एक अन्य कविता 'हाहाकार' की कुछ प्रसिद्ध पंक्तियाँ देखें :

'दूध, दूध! ओ वत्स!
मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं;
दूध, दूध तारे बोलो,
इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं?
× × ×
हटो व्योम के मेघ, पंथ से,
स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध, दूध ओ वत्स! तुम्हारा
दूध खोजने हम जाते हैं।'

हुंकार में ही 'विपथगा' शीर्षक कविता में क्रान्ति को प्रतीकात्मकतः विपथगामिनी कहा गया है। कविता में क्रान्ति को प्राचीन रूपों में चित्रित किया गया है :

'मुझ विपथगामिनी को न ज्ञात,
किस रोज़ किधर से आऊँगी,
मिट्टी से किस दिन जाग
क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी।
आँखें अपनी कर बन्द,

देश में जब भूकम्प मचाऊँगी,
किसका टूटेगा शृंग,
न जाने किसका महल गिराऊँगी,
मेरा कराल नर्तन-गर्जन।
झन-झन-झन-झन-झन-झनन-झनन!
× × ×
अबकी अगस्त की बारी है, पापों के पारावार! सजग;
बैठे विसूवियस के मुख पर भोले, अबोध संसार! सजग!
रेशों का रक्त कृषाणु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार! सजग!
दुनिया के नीरो सावधान! दुनिया के पापी जार सजग!
जानें किस दिन फुफकार उठें पद-दलित काल-सर्पों के फण!
झन-झन-झन-झन-झन-झन-झनन-झनन!'

हुंकार में ही 'भविष्य की आहट' कविता में भारत और एशिया के जागरण के संकेत लक्षित हैं :

'किस अनागत लग्न की महिमा अरी,
कीर्णपुण्य प्रकाश नव उत्कर्ष का;
दे रहा सन्देश पीड़ित विश्व को,
शृंगचढ़ जयशंख भारतवर्ष का।'

× × ×
पूर्व की छाती फटी किस शायद ओर से?
कालिमा भागी अचानक रात की,
खेलने हिमशृंग पर चढ़कर लगीं
रश्मियाँ क्या एशिया के प्रात की?'

1939 में जब दिनकर ने *सामधेनी* काव्यसंग्रह का प्रकाशन किया, तब तक उन्होंने उदारवाद तथा साम्यवाद के बीच के अन्तर्द्वन्द्व का समाधान कर लिया था। समाधान दोनों विचारधाराओं—स्वतन्त्रता तथा समानता—में जो ग्रहण करने योग्य था उसे अंगीकार करके किया गया। सिर्फ़ एक की अन्धस्वीकृति अस्वीकार्य थी। यथा, एक ओर तो दिनकर को दिल्ली की औपनिवेशिक पराधीनता से शर्मिंदा थे :

'विवश देश की छाती पर ठोकर की एक निशानी,
दिल्ली पराधीन देश की जलती हुई कहानी।
मरे हुओं की ग्लानि, जीवितों को रण की ललकार,
दिल्ली, वीरविहीन देश की गिरी हुई तलवार!'

—'दिल्ली और मास्को'

दूसरी ओर, वे अतर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रतीक मास्को से भी निर्भ्रान्त हो चुके हैं :

'एक देश है जहाँ विषमता से अच्छी हो रही गुलामी,
जहाँ मनुज पहले स्वतन्त्रता से हो रहा साम्य का कामी,
भ्रमित ज्ञान से जहाँ जाँच हो रही दीप्त स्वातन्त्र्य-समर की,
जहाँ मनुज से पूज रहा जग को, विसार सुधि अपने घर की।'

—'दिल्ली और मास्को'

इस व्याख्यात्मक पृष्ठभूमि में यह अप्रत्याशित नहीं है कि *सामधेनी* में स्वधीनता संघर्ष के एकमात्र व्यक्तित्व जिनकी काव्यात्मक उपस्थिति दर्ज है, वे हैं कांग्रेस सोशलिष्ट पार्टी तथा 1942 की अगस्त क्रान्ति के अग्रदूत जयप्रकाश नारायण :

'विप्लव ने उगला तुम्हें, महामणि, उगले ज्यों नागिन कोई;
माता ने पाया तुम्हें यथा मणि पाये बड़भागिन कोई।
× × ×
वह सुनो भविष्य पुकार रहा, वह दलित देश का त्राता है,
स्वप्नों का द्रष्टा 'जयप्रकाश', भारत का भाग्य-विधाता है।'

—'जयप्रकाश'

दिनकर के काव्य में दलितों व प्रताड़ितों के लिए संघर्ष का स्वर सदैव प्रखर है :

'है शेष यज्ञ जब तक अशेष हतभागों का,
शिंजिनी धनुष की तब तक नहीं नरम होगी;
शीतल होता जब तक जन-मन का ताप नहीं;
वंशी के उर की आग कहाँ से कम होगी!
× × ×
सुनना हो जिनको सुनें कि मैं मायापुर में
रंगों के मोहक पाश तोड़ने आया हूँ,
जो आग देश की पगदण्डी पर दौड़ रही,
सूरपुर में उसकी लपट छोड़ने आया हूँ।'

—'कवि और समाज', नीलकुसुम *(1955)*

दिनकार ने प्रथम गणतन्त्र दिवस 1950 का स्वागत *नीलकुसुम* (1955) की 'जनतन्त्र का जन्म' (26 जनवरी 1950 के दिन रचित) कविता से उद्धरित निम्नलिखित पंक्तियों से यों किया :

'अब्दों, शताब्दियों, सहस्राब्द का अँधकार बीता,
गवाक्ष अम्बर के दहके जाते हैं;

यह और नहीं कोई जनता के स्वप्न अजय,
चीरते तिमिर का वक्ष उमड़ते आते हैं,
सबसे विराट जनतन्त्र जगत का आ पहुँचा,
तैंतीस कोटि हित सिंहासन तैयार करो;
अभिषेक आज राजा का नहीं, प्रजा का है,
तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो!'

इस कविता में हिन्दी प्रदेशों में 'जनतन्त्र' तथा 'गणतन्त्र' के बीच स्पष्ट अन्तर न करने की प्रवृत्ति की भी झलक है। हिन्दी-भाषी राज्यों में राष्ट्रवाद/एकात्मक राष्ट्र-राज्य (जिसका जन्म विश्व इतिहास में फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति, 1789-1799, से हुआ) और संघवाद या संघात्मक राष्ट्र-राज्य (जिसका जन्म अमेरिका स्वाधीनता संग्राम, 1775-1783, से हुआ) का लगभग पर्यावाची अर्थ में लिया जाता है।

जब बिहार विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष के पद को छोड़कर दिनकर संसद-सदस्य (राज्य सभा) बनकर 1952 में नई दिल्ली आ गए, तो उन्होंने 'भारत का यह रेशमी नगर' शीर्षक कविता लिखी, जो *नीलकुसुम* (1954) में प्रथमतः संकलित हुई। उसकी कुछ पंक्तियाँ देखें :

'हो गया एक नेता मैं भी? तो बन्धु सुनो,
मैं भारत के रेशमी नगर में रहता हूँ;
जनता तो चट्टानों का बोझ सहा करती,
मैं चांदनियों का बोझ किसी विध सहता हूँ!'
× × ×
गन्दगी, ग़रीबी, मैलेपन को दूर रखो,
शुद्धोदन के पहरेवाले चिल्लाते हैं;
है कपिलवस्तु पर फूलों का शृंगार पड़ा,
रथ-समारूढ़ सिद्धार्थ घूमने जाते हैं;
सिद्धार्थ देख रम्यता रोज़ ही फिर आते,
मन में कुत्सा का भाव नहीं, पर जगता है;
समझाए उनको कौन, नहीं भारत वैसा,
दिल्ली के दर्पण में जैसा वह लगता है!
भारत धूलों से भरा, आँसुओं से गीला,
भारत अब भी व्याकुल विपत्ति के घेरे में।
दिल्ली में तो है ख़ूब ज्योति की चहल-पहल,
पर भटक रहा है सारा देश अँधेरे में।'

दिनकर में हम भारतीय राष्ट्रवाद की सबसे प्रबल काव्यात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। 1939 में हुंकार की 'आत्म-परिचय' शीर्षक कविता में दिनकर ने स्वयं को 'युगधर्म

का हुंकार कहा था। वह ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय स्वतन्त्र्य-संग्राम का काल था। राष्ट्रवाद को उन्होंने युगधर्म की संज्ञा दी थी। ध्यातव्य है कि 1953 के गणतन्त्र दिवस (26 जनवरी) के आगमन तक वे जवाहरलाल नेहरू के अंतर्राष्ट्रवाद तथा गुट-निरपेक्ष विदेश नीति के क़ायल दिखते हैं। उपर्युक्त गणतन्त्र-दिवस के अवसर पर रचित कविता का शीर्षक है 'राष्ट्रवाद का विसर्जन' जो *नीलकुसुम* (1954) में संकलित हैं :

'जलता है सब ओर यही अभिमान मनुज का,
जग में जो है दाह, इसी गौरव का फल है,
राष्ट्रदेव! वह भी लेता है नाम तुम्हारा,
खींच रहा जो शान्ति-सुन्दरी का आँचल है।
× × ×
शंका की यह आग नहीं क्या बुझ पाएगी?
देशों की दीवार तोड़ तुम जी न सकोगे?
फैल रहा है ज़हर तुम्हारा जो धरती पर,
राष्ट्रदेवता! उसे पुनः तुम पी न सकोगे?
तो फिर होगा ध्वंस तुम्हारे मंदिर का भी,
भस्मासुर दो-एक नहीं अब दल-के-दल हैं,
अवढरदाता! बचो, विश्व को भी बचने दो,
अब तो सबकी शरण विष्णु के पद केवल हैं।'

तदन्तर, 1962 के भारत पर चीन के आक्रमण और भारत के अपमानजनक पराजय के बाद दिनकर में पुनः एक प्रबल राष्ट्रवादी प्रत्यावर्तन हुआ। इसका प्रचण्ड काव्यात्मक विस्फोट *परशुराम की प्रतीक्षा* (1963) में दिखता है। इसके कुछ निदर्श देखें :

'स्वातन्त्र्य जाति की लगन, व्यक्ति की धुन है,
बहरी वस्तु यह नहीं, व्यक्ति का गुण है।
नत हुए बिना जो अशनि-घात सहती है,
स्वाधीन जगत में वही जाति रहती है।
× × ×
जब मिले काल तब महाकाल बोलो रे!
सत् श्री अकाल, सत् श्री अकाल बोलो रे!'

गाँधीवाद से आरंभिक वितृष्णा से जो धीरे-धीरे गाँधी से अपार श्रद्धा-भाव जगा था, जिसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति *बापू* (1947) नामक संकलन में हुआ था, उससे पुनः पूर्ण नहीं तो प्रासंगिक असहमति प्रकट होती है :

'समर पाप साकार, समर क्रीड़ा है पागलपन की,
सभी द्विधाएँ व्यर्थ समर में, साध्य और साधन की।'
'आपद्धर्म', परशुराम की प्रतीक्षा

अपने काव्य-जीवन के आरंभिक उन्मेष में ही हुंकार (1938) की 'असमय आह्वान' शीर्षक कविता में दिनकर ने धर्मराज युधिष्ठिर के बदले परम्योद्धा अर्जुन और भीम का वरण किया था :

'रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीरः
पर फिरा हमें गांडीव-गदा, लौटा दे अर्जुन भीम वीर।'

(आजकल के 'अशिक्षित शिक्षितों' के लिए स्पष्ट करना होगा कि यहाँ प्रसंग महाभारत में 'स्वर्गारोहण' के प्रकरण से है।)

कुरुक्षेत्र (1946) हिन्दी काव्य में युद्ध पर सबसे गम्भीर दार्शनिक विमर्श माना जाता है। इसकी पृष्ठभूमि *महाभारत* के युद्धोपरान्त शरशैया पर गिरे इच्छामृत्यु भीष्म, जो सूर्य के उत्तरायण पर प्राण त्यागने के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे, और विजयी पाण्डव पक्ष के ज्येष्ठ राजकुमार युधिष्ठिर के बीच संवाद है, जो शोणित-सिक्स विजयश्री की प्रतिवेदना से प्रताड़ित थे। दिनकर की संवेदना भीष्म के चिन्तन व प्रवचन के साथ है, पर दोनों पक्षों के विमर्श-बिन्दु की उन्होंने अद्भुत काव्याभिव्यक्ति की है। कुछ उदाहरण/निदर्श पेश हैं :

'हाय, पितामह, हार किसकी हुई है यह?
ध्वंस-अवशेष पर सिर धुनता है कौन?
कौन भस्मराशि में विफल सुख ढूँढता है?
लपटों में मुकुट का पट बुनता है कौन?
और बैठे मानव की रक्त-सरिता के तीर
नियति के व्यंग्य-भरे अर्थ गुनता है कौन?
कौन देखता है शवदाह बधु-बांधवों का?
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन?'

भीष्म का उत्तर है :

'चुराता न्याय जो रण का बुलाता भी वही है।
युधिष्ठिर! स्वत्त्व की अन्वेषणा पाताक नहीं है।
नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं;
न उनके हेतु जो रण में उसे ललकारते हैं।'

रश्मिरथी (1952) में दिनकर सूत-पुत्र तथापि अप्रतिम वीर व योद्धा, अन्यायी कौरवों को पक्षधर तथापि दानवीर व शीलवान कर्ण के चरित्र का भारतीय, स्वाधीन

लोकतन्त्र के काल में उद्धार करते हैं। *रश्मिरथी* स्वाधीन भारत के संघर्षशील उदीयमान युवा का सन् 1950, 60, व 70 के दशकों में कण्ठहार बन गया था। आज भी कोई उसे पढ़ता है, तो वह उसका आजीवन प्रेरणा-स्रोत बन जाता है। मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं, दार्शनिक विमर्श, शौर्य-वर्णन के संर्ग अनायास मानस व स्मृति के अविस्मरणीय अंश बन जाते हैं। यहाँ स्थान व समय की सीमाओं पके कारण सिर्फ़ एक प्रसंग की बानगी, जब कर्ण-अर्जुन द्वन्द्व-युद्ध में कर्ण का रथ कीचड़ में फँस जाता है, तो युद्ध के नियमों का उल्लंघन कर, कृष्ण और अर्जुन द्वारा उसका वध कर दिया जाता है। पर अन्त में कृष्ण उसकी श्रद्धांजलि में आनन्द-अतिरेकित युधिष्ठिर से कहते हैं :

'मगर जो हो, मनुज सुवरिष्ठ था वह,
धनुर्धर ही नहीं, धर्मिष्ठ था वह।
तपस्वी, सत्यवादी था, व्रती था।
हृदय का निष्कपट, पावन-क्रिया का।
दलित-तारक, समुद्धारक त्रिया का,
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था,
युधिष्ठिर! कर्ण का अद्‌भुत हृदय था।'

ऊपर वर्णित प्रतीकात्मक संवादवादी पारस्परित परिचर्चाओं से आगे जाकर दिनकर ने उर्वशी (1961) महाकाव्य पर 1972 के भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार सम्मान के अवसर पर 'आत्मकथन' व्याख्यान में जो स्वीकारोक्ति की है, वह उनके जीवन-दर्शन को समझने के लिए एक सहायक अभिलेख बन गया है :

'देवियो और सज्जनो, अन्त में अपने जीवन का एक और भेद बता कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। जिस तरह मैं जवानी भर इकबाल और रवीन्द्र के बीच झटके खाता रहा, उसी प्रकार मैं जीवन-भर गाँधी और मार्क्स के बीच झटके खाता रहा हूँ, इसीलिए उजले को लाल से गुणा करने पर जो रंग बनता है। वहीं रंग मेरी कविता का रंग है। मेरा विश्वास है कि अंततोगत्वा यही रंग भारतवर्ष के व्यक्तित्व का भी होगा। जय वाग्देवी! जय हिन्द!'

—'आत्मकथन', संचयिता, *1973, पृष्ठ 19,*

दिनकर के राष्ट्रवाद पर कोई भी निबन्ध अपूर्ण रह जाएगा, अगर उनके प्रमुख गद्यग्रन्थ *संस्कृति के चार अध्याय* (1956) की चर्चा न की जाए। यह भारतीय राष्ट्रवाद के विकास पर हिन्दी में अभूतपूर्व व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसे पढ़कर जवाहरलाल नेहरू के द्वारा अंग्रेजी में लिखित पुस्तक *Discovery of India* (1946)

का स्मरण हो जाता है। इस पुस्तक का 'प्राक्कथन' नेहरू के द्वारा ही लिखित है। लेकिन दिनकर की पुस्तक में भारतीय राष्ट्रीय संस्कृति के विकास की व्याख्या ज्यादा विस्तार व विद्वत्ता के साथ किया गया है।

इस पुस्तक में दिनकर भारतीय संस्कृति के विकास की गाथा चार प्रमुख सांस्कृतिक क्रान्तियों के परिपाक के फलस्वरूप विश्लेषित करते हैं :

1. आर्य एवं द्रविड़ संस्कृतियों का सम्मिश्रण;
2. जैन तथा बौद्ध सुधार आन्दोलन;
3. हिन्दु-मुसलमान संघर्ष एवं सहअस्तित्व; और
4. पाश्चात्य, प्रमुखतः ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन, भारतीय विद्रोह एवं सामंजस्य के फलस्वरूप परम्परा व आधुनिकता का भारतीय समन्वय।

यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक साहित्यिक पुस्तक भारतीय बहुसांस्कृति राष्ट्रवाद का सर्वोत्तम परिचय व प्रस्तुति है।

प्रसंगवश, दिनकर का साहित्य-दर्शन विस्तार से उनकी पुस्तक *शुद्ध कविता की खोज* (1966) में विश्लेषित है। पर वह यहाँ विषयान्तर का पहलू है।

•

सन्दर्भ-सूची

दिनकर रामधारी सिंह, *रेणुका,* पटना, पुस्तक भण्डार, 1935.

दिनकर, रामधारी सिंह, *हुंकार,* इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 2009; प्रथम प्रकाशन 1938.

दिनकर, रामधारी सिंह, *सामधेनी,* पटना, पुस्तक भण्डार, 1939.

दिनकर रामधारी सिंह, *उर्वशी,* पटना, उदयाचल, 1963.

दिनकर, रामधारी सिंह, *कुरुक्षेत्र,* राजपाल ऐण्ड सन्स, 2010; प्रथम प्रकाशन 1946.

दिनकर, रामधारी सिंह, नील कुसुम

दिनकर, रामधारी सिंह, *रश्मिरथी,* इलाहाबाद, लोकभारतीय प्रकाशन, 2018; प्रथम प्रकाशन 1956.

दिनकर, रामधारी सिंह, *शुद्ध* कविता की खोज, पटना, उदयाचल, 1996.

दिनकर, रामधारी सिंह, *संचयिता,* नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, 2005; प्रथम प्रकाशन 1973.

दिनकर, रामधारी सिंह, *संस्कृति के चार अध्याय,* प्राक्कथन जवाहरलाल नेहरू, पटना उदयाचल, 1962, द्वितीय संस्करण; प्रथम प्रकाशन 1956.

रेणु : रिपोर्ताज के आईने में

कामेश्वर पंकज*

रिपोर्ताज फ्रांसीसी भाषा का शब्द है। इसका सम्बन्ध अँग्रेजी के रिपोर्ट शब्द से है, समाचार प्रेषण के सम्बन्ध में किसी घटना के यथातथ्य साध्य वर्णन को रिपोर्ट कहते हैं। रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को ही रिपोर्ताज कहते हैं। वस्तुगत तथ्यों को रेखाचित्र की शैली में प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित करने में ही रिपोर्ताज की सफलता है।[1] इस रचना विधान का प्रादुर्भाव सन् 1936 के आस-पास द्वितीय विश्व युद्ध के समय हुआ था।[2] रिपोर्ताज के उद्‌भव के सम्बन्ध में रेणु जी का कथन है– 'गत महायुद्ध ने चिकित्सा-शक्ति को चीड़फाड़ (शल्य-चिकित्सा) विभाग को पेनसिलिन दिया और साहित्य के कथा विभाग को रिपोर्ताज।'[3] रेणु जी का पहला रिपोर्ताज विदापत-नाच साप्ताहिक विश्वमित्र पत्रिका में अगस्त 1945 में प्रकाशित हुआ है।

फणीश्वर नाथ रेणु जितने बड़े उपन्यासकार हैं, उतने ही ज़हीन कहानीकार और रिपोर्ताज लेखक हैं। हिन्दी साहित्य में रिपोर्ताज को साहित्य के इतने क़रीब लाने का श्रेय रेणु जी को ही है। इन्होंने रिपोर्ताज को अख़बारी दुनिया से निकालकर साहित्यिक जगत में प्रतिष्ठित किया है। कहा जाता है कि रेणु जी ने रिपोर्ताज को जिस आधिकारिक ढंग से साहित्य में प्रवेश कराया, इसके पूर्व इस विधा का यह साहित्यिक रूप न था। भारत यायावर ने रेणु रचनावली भाग चार में रेणु जी के लगभग दो दर्जन रिपोर्ताज की सूचना दी है। लेकिन संकलित मात्र सत्रह हैं, बाकी अनुपलब्ध हैं। इन रिपोर्ताजों में रेणु जी के जो विचार, सामाजिक चिन्तन, राजनीतिक दृष्टिकोण आदि व्यक्त हुए हैं, रेणु जी के व्यक्तित्व के बहुत बड़े भाग को प्रकाशित करते हैं। यहाँ उनके दो ख़ास रिपोर्ताज-विदापत-नाच और एकलव्य के नोट्स- पर फोकस है, ये दोनों रिपोर्ताज एक ही बिन्दु पर धनीभूत हैं–सामाजिक वर्ण-भेद : वर्ग चेतना।

'विदापत-नाच' मिथलांचल और अंग प्रदेश का एक प्रसिद्ध कथा-संवाद शैली का नृत्य संयोजन है, जिसे स्थानीय भाषा में 'नाच' कहते हैं। इसमें किसी मंच और

कामेश्वर पंकज : हिन्दी विभाग, दर्शन साह महाविद्यालय कटिहार, बिहार मो. 9430970504

पर्दे की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि दर्शक मंडल के बीचों-बीच अभिनय किया जाता है। बिलकुल अनौपचारिक ढंग से। इसी नाच को आधार बनाकर रेणु जी ने सामाजिक विद्रूपता को व्यक्त किया है। विदापत-नाच में पात्र और दर्शक दोनों ही निम्न वर्ग के होते हैं। तथाकथित भद्र समाज के लोग इसे देखना 'हेठी' समझते हैं। इस नाच की कुछ ख़ास बातें हैं– इसका नायक विदूषक होता है, जिसे विकटा कहा जाता है। इसमें कोई औपचारिकता नहीं होती, मसलन–दाढ़ी-मूँछ वाला मर्द घूँघट डालकर चन्द्रमुखी बन जाता है। वस्तुतः यह नाच पूरी तरह विद्यापति के पद और उसकी पैरोडी पर आधारित है। पैरोडी से कथा क्रम आगे बढ़ता है और कथ्य व्यक्त होता है।

नाच की नायिका विद्यापति का एक पद गाती है– 'सखि हे, कि पूछसि अनुभव मोहे, जनम अवधि हम रूप निहारलौ। तबहूँ न तिरपति भेल।' इसके जवाब में विकटा कहता है। 'बाप रे! कौन दुर्गति नहीं भेल। सात साल हम सूद चुक औलो, तबहूँ उरिन नहीं-भेलो!'

गीत का यह क्रम आगे भी चलता रहता है। उसमें एक से एक वर्ग-भेद की विद्रूपताएँ सामने आती हैं; जैसे– कोल्हू के बैल की तरह रात-दिन मेहनत करना, पटवारी, चौकीदार, सिपाही सभी को नज़राना देने के बाद कुछ भी नहीं बचना, पते फकपटलाल गिरधारी, बिलकुल कंगाल; सभी पद के पैरोडी में चित्रित होता है। इस दुर्गति के बाद भी ज़मींदारों की बेगारी और काड़े। विकटा की बदज़ुबानी के लिए एक पात्र उसे कोड़ा मारता है। इस पर विकटा कहता है– 'मुझे पीटकर बेकार समय बर्बाद किया जा रहा है। ज़मींदार के जूते खाते-खाते मेरी पीठ की चमड़ी मोटी हो गई है।' नायिका, विद्यापति का एक पद गाती है– 'इ माह भादर, भरल बादर, शून्य मन्दिर मोर।' विकटा छन्द मिलता है–'इ माह भादर, वरिसे बादर, चुअत छप्पर मोर।' यह नाच रातभर चलता है–इसी हास-परिहास और व्यंग्य के साथ। इसमें निम्न वर्ग का शृंगार भी है और दर्द भी। इसका वर्गीय चरित्र, सामाजिक और आर्थिक विद्रूपता इनके पैरोडी में स्पष्ट है। रिपोर्ताज के माध्यम से रेणुजी ने मिथलांचल के सामाजिक और आर्थिक संरचना के जिस यथार्थ को व्यक्त किया है, वह बदले हुए रूप में आज भी है। यह रचना 1945 की है– उस समय ये पात्र समाज की मुख्य धारा में नहीं थे। बाबा नागार्जुन के पात्र 'बलचनवा' के रूप में आज भी वहीं है, वहाँ से निकलने के लिए संघर्षरत हैं। यह नाच, उसके पात्र, कथा-कथ्य और दर्शक अपनी जगह हैं। रेणु इन सबों के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज करते हुए लिखते हैं– 'हाँ, एक बात तो कहना ही भूल गया कि 'विकटा' अपने को कृष्ण भी समझता है, परदेशी साजन भी समझता है, लेकिन इसके साथ ही वह यह नहीं भूल जाता कि वह कलरू मुसहर है, हलहलिया का रहने वाला है और मनुष्य रहते हुए भी है सिर्फ़ कोल्हू का बैल।'[4] लेखक बताना चाहता है कि 'विकटा' जैसे वर्ग के लोग अभिनय में भी, स्वप्न में भी 'मनुष्य' होने

की कल्पना नहीं कर सकता। वह बैल ही जन्म लेता है और बैल ही होकर मर जाता है।

रिपोर्ताज 'एकलव्य के नोट्स' नोट्स शिल्प में लिखा गया है। लिखने वाले का नाम है– एकलव्य। एकलव्य पटना के किसी साप्ताहिक पत्रिका के सह-सम्पादक हैं। वे अपने को समाज-विज्ञानी कहते हैं, परन्तु वह किसी विश्वविद्यालय में पढ़े नहीं। पटना के पत्रकारिता समाज में उनका कोई महत्व नहीं है। एकलव्य को निहायत सनकी माना जाता है। एक दिन अचानक पटना से पूर्णियाँ जिले का परानपुर गाँव चले आते हैं। इस गाँव में सरकार की ओर से लैण्ड सर्वे सेटलमेन्ट का कार्य चलता है। इस सर्वे से ग्रामीण जीवन में जो परिवर्तन हुआ, इसका नोट्स एकलव्य ने लिया– वही एकलव्य का नोट्स है।

वस्तुतः ज़मींदारी प्रथा समाप्त होने के बाद जोतदारों को ज़मीन का मालिकाना हक़ दिलाने के लिए और ज़मीन का सही आँकड़ा पाने के लिए सरकार की ओर से लैण्ड सर्वे सेटलमेन्ट कार्यक्रम चलाया गया। ज़मीन का मालिकाना हक पाने के लिए केवल एक शर्त– उस ज़मीन का जोतदार होना। ज़मींदार या बड़े किसान स्वयं अपनी ज़मीन नहीं जोतते थे– उनके रैयत जोतते थे। सर्वे अधिकारी को यह विश्वास दिलाना है कि फलाँ ज़मीन का वह जोतदार है– ज़मीन उसकी। इस कार्यक्रम से सबसे पहला प्रभाव सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ा और दूसरा कि समाज के हाशिए पर के लोगों में आर्थिक ताकत आई और अपने मालिकों से सिर उठाकर बात करने का साहस आया; तत्कालीन समाज में यह परिवर्तन कम नहीं था। जिस गाँव (परानपुर) में यह हो रहा था, वह पर्याप्त विकसित था। लेखक ने लिखा है– 'विभिन्न जातियों के तेरह टोले हैं, मुसलमान टोली छोटी है। आठ ग्रेजुएट, एक एम.ए. पचास मैट्रिकुलेट, एक सौ मिडिल पास, डेढ़ दर्जन कवि, क़रीब दो दर्जन कथाकार, एक साहित्यालंकार और एक नाटककार। एक हरिजन बी.ए. पास...। एक कवयित्री।'[5] (1954 ई. में बिहार के किसी एक गाँव की यह तस्वीर उसकी उन्नति का ही सूचक है) इतना ही नहीं, इस गाँव में एक उच्च विद्यालय, एक कन्या मध्यविद्यालय, एक पुस्तकालय और एक नाट्यशाला भी है।

इस रिपोर्ताज की मूल घटना लैण्ड सर्वे सेटलमेन्ट की है, जिससे सामाजिक परिवर्तन का संकेत मिलता है एक दूसरी अवन्तर घटना है– नाटक मण्डली की, जिसमें वर्ण-सह-वर्ग संघर्ष है। परानपुर गाँव में जितनी भी विकासशील संस्थाएँ विद्यालय, पुस्तकालय आदि हैं, उन पर सवर्णो का आधिपत्य है। दलित इन संस्थाओं के लाभ से लगभग वंचित हैं। नाट्यशाला है तो नाटक भी होता है; इसमें दलितों की सहभागिता नगण्य और उपेक्षित है। इस बार दलितों में स्वाभिमान जगा है– शायद इसलिए मालिकों की ज़मीन पर उनका भी हक़ निकला है। दलित भी अपना नाटक खेलना चाहता है। सवर्ण टोली को यह स्वीकार नहीं है। दलित अपने टोले में नाटक

के मंचन की योजना बनाता है। सवर्ण चौकन्ना हो जाता है। एक षड्यन्त्र के तहत सवर्ण टोली के लोग दलित टोली के मंच को साझा करते हैं कि मिल-जुलकर नाटक खेलेंगे। उनका उत्तम विचार है कि ज़मीन की लड़ाई ज़मीन पर गाँव की लड़ाई गाँव में, लेकिन आपस में फूट पड़ी तो दुनिया हँसेगी।[6] सवर्ण टोली की नाट्य मण्डली से पर्दा, पोशाक, ढोल हारमोनियम और अन्य साजो-सामान आता है। नाटक की पूरी तैयारी है। नाटक के दृश्य में थोड़ा संशोधन किया गया। सवर्ण और दलित दोनों टोले के लोग मिल-जुलकर नाटक खेलेंगे। सवर्ण टोले के लोग संशोधित सीन में उतरेंगे। पर्दा उठा। प्रथम दृश्य में नाटककार दिवाना जी ने ग्राम सुधार पर भाषण दिया। दूसरा सीन संशोधिन सीन था। इस सीन में सवर्ण टोले के बीस कलाकार एक साथ मंच पर आए एक षड्यन्त्र पूर्ण योजना के तहत नाट्य मण्डली के सभी साजो-समान, पर्दा, पोशाक, ढोल, हारमोनियम, तलवार, मुकुट पेट्रोमेक्स आदि लेकर भाग गए; यहाँ तक कि नाटककार प्रेम कुमार दिवाना जी को भी उठाकर ले गए। दर्शन मण्डली (जिसमें केवल दलित ही थे) समझ रही है यह नाटक का ही अंश है। ये भेले-भाले दलित लोग जब तक जानते कि वे लुट गए हैं, तब तक बहुत देर हो चुकी थी। दलित टोली के नाटक का जो हाल हुआ वही लैण्ड सर्वे सेटलमेन्ट में दलितों को मिली हुई ज़मीन का भी हुआ। काग़ज़ पर ही जोतेदारों को ज़मीन मिली यथार्थ में ज़मीन ज़मींदारों की ही रही।

वस्तुतः ज़मींदारी प्रथा समाप्त हुई, 'ज़मींदार' शब्द का लोप हुआ। ज़मीन ज़मींदारों के पास रही। ज़मींदार शब्द किसान में परिवर्तित हो गया। रेणु जी लिखते है– 'जिले में ज़मींदार राजाओं की ज़मींदारी का विनाश अवश्य हुआ, किन्तु हिन्दुस्तान के सबसे बड़े किसान यहीं निवास करते हैं। गुरुवंशी बाबू ज़मींदार नहीं, किसान हैं। दस हज़ार बीघे ज़मीन है। दो हवाई जहाज रखते हैं। दूसरे हैं भोलाबाबू क़रीब पन्द्रह-बीस हज़ार बीघे ज़मीन है, सवा दर्जन ट्रैक्टर हैं। पर यह बात सच्ची है कि वे ज़मींदार नहीं। गाँव-गाँव पर इन किसानों का राज! भूमिहीनों की विशाल जमात जगती हुई चेतना। ज़मींदारी प्रथा समाप्त होने के बाद भी हर साल फ़सल कटने के समय एक-डेढ़ सौ लड़ाई-दंगे और चालीस-पचास 'मर्डर' होते रहें...।'[7]

दलित नाटक के अपहरण होने पर रेणु जी लिखते हैं– 'सब हँसते हैं।' मैं हँसने के मूड में नहीं हूँ। पंचायती पेट्रोमेक्स गुल हो जाए–'यह हँसने की बात नहीं है।'[8] पंचायती पेट्रोमेक्स सामाजिक अस्मिता का प्रतीक है, जिसे सवर्णों ने/समर्थों ने बुझा दिया। ये दलित किसान-मज़दूर कब तक अँधेरे में रहेंगे? यह लेखक की चिन्ता है। इस रिपोर्ताज की मूल चिन्ता यह है कि लैण्ड सर्वे सेटलमेन्ट में सारे ज़मींदार बहुत ही चालाकी से अपनी सारी ज़मीन बचाने में कामयाब हुए और भूमिहीनों की भूमि समस्या का अन्त नहीं हुआ।

इस रिपोर्ताज में दो टिप्पणियाँ ऐसी हैं, जो रेणु-साहित्य और उनके आलोचकों से सम्बन्धित हैं– शहर (पटना) से शशांक ने लिखा– 'हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध पर्सनैलिटी ने कहा है– एकलव्य एक दिन अपनी ग़लती पर पछताएगा। ...गाँव अँचल आँचलिक वगैरह के गोरखधन्धे से निकलकर उसे शुद्ध साहित्य की रचना करने को कहो।'[9] एकलव्य के नोट्स को किसी मासिक पत्रिका में प्रकाशित किया गया। कथा साहित्य को ऐसी स्थूल चीज़ों की आवश्यकता नहीं– सम्पादकीय 'नोट' के साथ।[10] कहना नहीं होगा कि समाजविज्ञानी एकलव्य स्वयं रेणु है, 'नोट्स' अँचल की कथा व्यथा है। इस कथा-व्यथा से भी उन्नत साहित्य की रचना हो सकती है– न यह गोरख धन्धा है, न कोई स्थूल साहित्य। यह रेणु-साहित्य में सिद्ध किया है।

वस्तुतः रेणु जी के रिपोर्ताज रेणु की विचारों की दुनिया है, इनमें रेणुजी ने अपने विचारों को अधिक स्पष्टता से व्यक्त किया है। रेणु जी समाजवादी-लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारधारा के थे। रेणु जी अपने समय-समाज को इसी दृष्टि से देखते हैं–इसमें कोई राजनीतिक प्रतिबद्धता नहीं, बल्कि सामाजिक पक्षधरता है। उनके कुछ अन्य रिपोर्ताज हैं–'सरहद के उस पार'–इसमें नेपाल के मील-मज़दूरों की बदहाली और राज-शाही की अय्याशी का वर्णन है। 'हड्डियों का पुल'–इसमें 1950 के अकाल का मार्मिक वर्णन है। 'नए सबेरे की आशा' बेहद संजीदगी से लिखा गया किसान-आन्दोलन का वर्णन है। ''भूमि दर्शन की भूमिका'' हो या 'पटना जल प्रलय' रेणु जी हर मोड़ पर अपनी सामाजिक पक्षधरता की भूमिका में रहते हैं। इनके रिपोर्ताज के विचारों और घटनाओं की रोशनी में इनके उपन्यासों और कहानियों के पाठ अधिक अर्थ-गर्भित हो जाते हैं। रेणु जी अपने साहित्य में विचार वैविध्य नहीं, विचार संघनन के रचनाकार हैं।

•

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य कोश- सं. धीरेन्द्र वर्मा पृ.- 716
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास सं.- नगेन्द्र पृ. 718
3. रेणु रचनावली, भाग-चार, सं.- भारत यायापर, पृ. 9
4. वही, पृ.- 21
5. वही, पृ.- 67
6. वही, पृ.- 78
7. वही, पृ.- 71
8. वही, पृ.- 79

राष्ट्र, शिक्षा, राजनीति : भारतीय परिप्रेक्ष्य

ब्रजेन्द्र पाण्डेय*

उदयावपात सभ्यताओं की नियति है। भारतीय सभ्यता भी इससे अछूती नहीं रही। बारहवीं शताब्दी से इस सनातन सभ्यता पर विजातीयता की छाया गहरानी शुरू हुई। अठारहवीं शताब्दी तक राज्य और समाज के स्तर पर कमोबेश उथल-पुथल बना रहा, किन्तु भारतीय समाज का अन्दरूनी चरित्र अविचलित रहा। अठारहवीं शताब्दी के बाद भारतवर्ष के संस्कृति-प्रधान समाज ने एक अपूर्व स्थिति का सामना किया। यह दो परम्पराओं का सम्पर्क नहीं, वरन् परम्परा का आधुनिकता के साथ सीधा टकराव था। इस टकराव के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में जिस तथाकथित पुनर्जागरण का जन्म हुआ उसका चरित्र विलक्षण है। महर्षि अरविन्द ने भारतीय पुनर्जागरण को आधुनिकता का एशियाई संस्करण कहा है जो अनेक दृष्टियों से सत्य भी है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि पुनर्जागरण-काल में आधुनिक पाश्चात्य जीवन-दृष्टि का ही महिमामण्डन नहीं हुआ, वरन् भारतीय संस्कृति के मूलस्वरों की कभी मंद एवं कभी तीव्र प्रतिध्वनि भी सुनाई पड़ती है। भारतीय पुनर्जागरण का स्वरूप सोलहवीं शताब्दी के यूरोपीय पुनर्जागरण की भाँति ही जटिल है। दोनों में जहाँ एक ओर इहलोकवाद के प्रति प्रबल आग्रह दिखाई देता है, वहीं दूसरी ओर हमें यूरोपीय और भारतीय पुनर्जागरण के मध्य एक मौलिक अन्तर को भी ध्यान में रखना चाहिए। सोलहवीं शताब्दी के यूरोप के राष्ट्र-राज्य स्वतंत्र थे और वे स्वेच्छा से इहलोकवादी-व्यक्तिवादी जीवन-दृष्टि का वरण कर रहे थे। ईसाई जीवन-दृष्टि से विलग होने की उनकी इच्छा आत्म-प्रसूत थी।

* ब्रजेन्द्र पाण्डेय, उपाचार्य, राजनीतिशास्त्र, विद्यान्त महाविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सचिव, कुमारस्वामी फाउण्डेशन, सह-सम्पादक, *तत्त्व-सिन्धु*। कृतियाँः *Re-membering Tradition: AK Coomaraswamy and AK Saran*, *Exploring Universalism*, *Re-thinking Indian Political Thought*, *Reflections: Philosophia Perennis in Contemporary Context*, *परम्पराः सनातन सन्दर्भ और आधुनिक भारत के प्रश्न*। brijendra_pandeyji@yahoo.co.in] 09451155116.

जबकि उन्नीसवीं शताब्दी का भारत एक पराधीन राष्ट्र था जिस पर आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के जीवनादर्श आरोपित किए जा रहे थे। यह आरोपण संवेदनशील भारतीयों को प्रायः कसमसाहट और पीड़ा से भर देता है तथा अनेक अन्तर्द्वन्द्वों एवं विरोधाभाषों को जन्म देता है।

इस प्रकार, पुनर्जागरण-काल एक क्लान्त-श्रान्त प्राचीन देश में आधुनिकता के बीजारोपण का काल तो है ही, यह भारतीय अस्मिता के सिंहनाद का काल भी है। यह आत्म-विस्मरण का काल भी है और पुनर्स्मरण का भी। यह दिग्भ्रान्ति का काल भी है और दिशा-बोध का भी। यह संविभ्रम (Paranoia) का काल भी है और सम्यक् दृष्टि (Metanoia) का भी। एक प्राचीन राष्ट्र अपने नए संरक्षक के प्रति कभी विश्वास तो कभी अविश्वास का भाव लिए गतिमान है, परन्तु अपने गंतव्य को लेकर दुविधाग्रस्त है।

भारतीय जीवन-विधान को देखने की उपर्युक्त पद्धतियों से कुछ मनीषियों को असंतोष भी हुआ। भारतीय सभ्यता के इस संधिकाल में कुछ विलक्षण विचारकों का उदय हुआ, जिन्होंने न केवल भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन को बल प्रदान किया, वरन् इतिहास के इस पड़ाव पर भारत के भविष्य को लेकर मार्गदर्शन भी किया। लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आनन्द कुमारस्वामी, के. सी. भट्टाचार्य, बद्रीशाह, श्रीअरविन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, महामहोपाध्याय मोतीलाल शर्मा शास्त्री, म.म. गोपीनाथ कविराज तथा धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज जैसी विभूतियों का भारतीय विचार-व्योम में प्रकट होना दैवीय सम्बल के समान है। इन विभूतियों से प्रेरणा ग्रहण करके ही स्वातन्त्र्योत्तर भारत में पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसी विभूतियों ने समसामयिक संदर्भ में अपने सनातन जीवनादर्शों से विचलित न होते हुए अपने मार्ग को खोजने का यत्न किया। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय सनातन परम्परा में इस प्रकार का प्रयास अपने ऋषि-ऋण को चुकाने का प्रयास है। इस विचार में यह तथ्य भी अन्तर्निहित है कि भारतीय परम्परा में किसी भी जननायक अथवा विचारक का महत्त्व इसी बात में निहित है कि वह अपनी सनातन परम्परा के सत्त्व की रक्षा के प्रति कितना उद्यत, समर्पित, आग्रही तथा सतर्क है। उक्त सभी विचारकों के महत्त्व को इसी दृष्टि से समझा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के सभी विचारक समसामयिक सम्दर्भों में अपनी परम्परा की ओर संकेत करने वाले प्रबल संकेतक हैं – इन सभी का महत्व इसीलिए है। इन सभी के प्रति हमारे मन में आदर का भाव इसलिए है क्योंकि अपनी सनातन परम्परा के प्रति हमारी प्रतिबद्धता असंदिग्ध और अटूट है। इसलिए इन विचारकों तथा इनसे संबंधित अवसरों के माध्यम से हमारा प्रयास यही होना चाहिए कि हम अपनी सनातन परम्परा के जीवनादर्शों को न केवल समझने का यत्न करें वरन् उन्हें जीवन में धारण करने का भी प्रयास करें। अनेकानेक प्रतिकूलताओं के उपरान्त भी मात्र इस संकल्प से बड़ा

प्रभाव पड़ सकता है कि आधुनिक और परम्परागत जीवन-दृष्टि में से हमारी प्राथमिकता क्या है। यदि आधुनिक जीवन-दृष्टि और आधुनिक जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता हैं तो ऐसे विचारक और इनके विचार हमें कालबाह्य, अप्रासंगिक और अव्यावहारिक लगने लगेंगे; और यदि परम्परागत जीवन-दृष्टि और तदनुरूप जीवन-विधान हमारी प्राथमिकता है तो अनेक प्रतिकूलताओं के बीच भी हम इस प्रकार के जीवन के लिए स्थान, समय और उपाय खोज ही लेंगे। इसलिए इन विचारकों के विचारों पर विचार करने से पूर्व हमें अपनी प्राथमिकता सुनिश्चित कर लेनी चाहिए कि अपने आधुनिक जीवन-विधान के बीच इन विचारकों के लिए हम स्थान तलाश रहे हैं अथवा इन विचारकों से मार्गदर्शन प्राप्त करके हम जटिल आधुनिक जीवन के बीच से भी अपने लिए मार्ग बनाना चाहते हैं। हमारे वैचारिक निष्कर्ष और हमारी व्यावहारिक उपलब्धियाँ इसी प्राथमिकता के निर्धारण पर टिके हैं। इन विचारकों के साथ हमारी संगति का आधार यह प्राथमिकता ही है। वैसे तो भारतीय काल-विधान के अनुसार यह कलिकाल है। धर्म के चार चरणों में से एक चरण ही शेष है। धर्म का सांगोपांग, समग्र और व्यापक उन्मीलन संभव नहीं है। द्वन्द्व की स्थिति में रहना हमारी नियति है। किन्तु, हमारी प्राथमिकताएँ, हमारे झुकाव हमारी नियति को एक प्रभावपूर्ण और निर्णायक आयाम देने में सक्षम हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साठ और सत्तर के दशक तक जो राजनेता भारतीय राजनीति के पटल पर उदित हुए उन्हें विश्व-इतिहास और सभ्यताओं के प्रवाह का एक क्रमबद्ध और सुसंबद्ध बोध था। उस पूरे परिप्रेक्ष्य के सापेक्ष वे तत्कालीन भारतवर्ष को रखने-देखने का प्रयास करते थे। दुर्भाग्य से जे.पी. आन्दोलन के बाद भारतवर्ष में राजनेताओं की एक ऐसी नस्ल पैदा हुई जो विश्व-इतिहास कौन कहे, अपनी ही सभ्यता-संस्कृति के प्रति या तो बेगानी थी या फिर आत्म-ग्लानि से भरी हुई।

परम्परानिष्ठ भारतीय मनीषियों ने यह मौलिक प्रश्न उठाया कि आधुनिक पश्चिमी चिन्तन की अवधारणाओं को प्राचीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक चिन्तन पर आरोपित करना भारतीय चिन्तन के स्वभाव और प्रकृति के अनुकूल है या नहीं?

परम्परानिष्ठ भारतीय मनीषी पश्चिमी राष्ट्र-राज्य के उदय के साथ-साथ राज्य और व्यक्ति के संबंधों का भी गहन विश्लेषण करते हैं और वे आधुनिक पश्चिमी मानदण्डों की सार्वभौमिकता के दावे को सिरे से नकार देते हैं। ज्ञान की अक्षुण्ण परम्परा में मनुष्य-मात्र की भागीदारी का समर्थन तो वे करते हैं, किन्तु अपने विशिष्ट अतीत और अपने विशिष्ट राष्ट्रीय सन्दर्भों का उनके लिए विशेष महत्त्व है। वे पश्चिमी राष्ट्रवाद और विश्वशांति तथा लोकतंत्र और समाजवाद की अवधारणाओं के मध्य विसंगति भी रेखांकित करते हैं और इन सबके सापेक्ष भारतीय संस्कृति को तादात्म्यमूलक और एकात्मपरक मानते हैं। परम्परागत भारतीय संस्कृति में अपने

मूलभाव तथा जीवन सम्बन्धी अपने विचार को कार्यरूप देने के लिये वर्णाश्रमधर्म-विधान है। वस्तुतः 'संस्कृति' शब्द का तात्पर्य ही भूषणभूत सम्यक् कृतियों या चेष्टाओं का सार-समुच्चय है। भूषणभूत सम्यक् कृतियों या चेष्टाओं का सम्पूर्ण क्षेत्र ही संस्कृति का क्षेत्र है। जिन चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करे, वे चेष्टाएँ ही उसके लिए भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ कही जा सकती हैं। अथवा, मनुष्य की आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल चेष्टाएँ ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएँ हैं। या, मनुष्य की वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय के अनुकूल देहेन्द्रिय, मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चेष्टा ही उसकी भूषणभूत सम्यक् चेष्टा या संस्कृति है। देहेन्द्रिय की समस्त चेष्टाएँ 'आचार' के क्षेत्र में और मन-बुद्धि, चित्ताहंकार की चेष्टाएँ 'विचार' के क्षेत्र में आती हैं, इसलिए संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।

इस दृष्टि से किसी जाति के लिए लौकिक-पारलौकिक विश्वास का आधार उस जाति का दर्शनशास्त्र होता है। इसी दर्शनशास्त्र के अनुरूप उस जाति का आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र होता है जो विधि-निषेधात्मक, कर्तव्याकर्तव्य-सम्बन्धी आज्ञाप्रदायक, कर्मपरक होता है। किसी जाति का धर्मशास्त्र अपने दर्शनशास्त्र-प्रतिपादित लौकिक-पारलौकिक अभ्युदय में सहायक जिन कर्मों या आचार-विचारों का विधान करता है, वे कर्म ही उस जाति के लिए कर्तव्य होते हैं और उन्हीं के द्वारा वह जाति अपनी लौकिक-पारलौकिक उन्नति मानती है। स्पष्टतः, किसी जाति के धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित आचार-विचार ही उस जाति की संस्कृति का स्वरूप होता है। अतएव, परम्परा में संस्कृति का आधार शास्त्र या धर्मग्रन्थ को ही माना गया है।

यहाँ 'जाति' शब्द का अर्थ-संकेत करना भी समीचीन होगा। जाति शब्द का अर्थ यहाँ समान मानसिक प्रवृत्तिवाले उस जन-समुदाय से है जिसे एक समान प्राकृतिक निमित्ति प्राप्त हो। केवल रीति, भाषा अथवा सत्ता के आधार पर निर्मित 'नेशन' आदि कृत्रिम शब्द 'जाति' का उद्‌बोध कराने में अक्षम हैं। भारतीय दैशिक-शास्त्र के अनुसार जाति सहज, सावयव एवं आधिजीवक सृष्टि है। यूनानी परम्परा में प्लेटो के 'नेचर ऑफ थिंग्स' के सिद्धांत में इस अवधारणा की समीपतम सादृश्यता देखी जा सकती है। संस्कृत वाङ्मय में 'राष्ट्र' शब्द का मनोभाव भी इसके समीपस्थ है।

बद्रीशाहकृत *दैशिक-शास्त्र* में जाति के प्रकरण को चिति और विराट् की धारणाओं की सहायता से स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। *दैशिक-शास्त्र* के अनुसार किसी भी जाति के, चाहे वे भारतवंशी हों अथवा यूनानवंशी, दो तत्त्व प्रधान समझे जाते हैं—चिति और विराट्। चिति किसी जाति के चरित्र-वैशिष्ट्य की ओर इंगित करती है। जब तक चिति जागृत और निरामय रहती है तब तक जाति का

अभ्युदय होता रहता है, चिति का तिरोधान होने पर अथवा उसमें किसी प्रकार का विपर्यास आने से जाति का अवपात होने लगता है और चिति का लोप हो जाने पर जाति निश्चेतन देह के समान निष्प्राण, निष्क्रिय, निश्चेष्ट हो जाती है। ऐसी चिति-शून्य जाति के लिए दूसरे की भोज्य-वस्तु बने रहने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता।

दूसरी ओर विराट् सामाजिक जीवों को प्रदत्त एक विशेष प्रकार के सहानुभूतियुक्त तेज को कहते हैं। यह तेज ही व्यष्टि को समष्टि के हितार्थ आत्मत्याग करने को प्रेरित करता है, जिससे व्यष्टियों में परस्पर सहानुभूति रहती है और समष्टि की रक्षा के लिए व्यष्टिगत शक्ति न्यूनाधिक रूप में एकीभूत होकर केन्द्रस्थ रहा करती है। ध्यातव्य है कि यह विराट् व्यक्तियों के हृदय में चिति के प्रकाश से ही जागृत होता है, चिति के अन्तर्हित होने पर विराट् का भी ह्रास होता चला जाता है। यह विराट् जाति रूपी शरीर का प्राण है। जिस प्रकार मनुष्य-देह में समस्त मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ एक प्राण के रूपान्तर होती हैं, उसी प्रकार जाति की समस्त दैशिक चेष्टाएँ उसी विराट् का रूपान्तर होती हैं। जैसे शरीर में जब तक प्राण रहता है तब तक उसमें अन्नादि से बल-संचय होता रहता है किन्तु प्राण के चले जाने पर, शरीर के चले जाने पर शरीर के तत्त्व अपने काम न आकर दूसरे के काम में आने लगते हैं।

इसी प्रकार जब तक विराट् ठीक रहता है तब तक जाति का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है ओर जब मिथ्या आचार-विचार से विराट् का स्वरूप धुँधलाने लगता है तो जाति रूपी शरीर में स्वार्थ रूपी महाव्याधि उत्पन्न हो जाती है। उसके सब अंग निस्तेज, निर्बल और प्रतिरोधहीन हो जाते हैं, सबको अपनी-अपनी सूझने लगती है, परिणामतः वह सान्निपातिक दोषों से युक्त हो जाता है और दिन-प्रतिदिन उसका शतोमुखी पतन होने लगता है। इस प्रकार, देशरूपी वस्त्र को धारण किए हुए जाति-रूपी शरीर की आत्मा चिति है और प्रकाश विराट्। चिति और विराट् का सम्यक् सामंजस्य ही किसी देश की समुन्नति का अन्तर्निहित कारण है। दूसरे शब्दों में, चिति किसी राष्ट्र का चरित्र-वैशिष्ट्य है, और विराट् जागृत चिति के द्वारा मनुष्य के हृदय में उत्पन्न वह प्रकाश है जो इस वैशिष्ट्य के प्रति मनुष्य को आत्मत्याग करने की प्रेरणा देता है। जागृत चिति के अभाव में विराट् का प्रकाश भी धुँधला पड़ जाता है और राष्ट्र का अवपात हो जाता है। इस प्रकार, देश अथवा राष्ट्र जातीयता की प्रतिष्ठा है।

व्यक्ति बनाम समाज की आधुनिक पश्चिमी धारणा के विपरीत भारतीय दृष्टि से राष्ट्र किसी भी भौतिक क्षेत्र-विशेष में लोगों के सहअस्तित्व से बढ़कर है। सनातन दृष्टि के अनुसार राष्ट्र का एक अर्थ 'ग्राम' किया गया है। ग्राम से तात्पर्य ऐसे स्थान से है, जहाँ व्यक्ति को विश्रान्ति प्राप्त हो सके और विश्रान्ति व्यक्ति को वहीं प्राप्त हो सकती है, जहाँ की प्रकृति के साथ उसका स्वाभाविक आत्मीय तादात्म्य स्थापित

हो सके। इसी अभिप्राय से राष्ट्र उस भूमि को कहा गया है, जिसके साथ व्यक्ति का मातृसम ममत्व स्थापित हो सके। व्यक्ति और संस्थाओं के अन्तर्सम्बंधों के निरूपण के सम्बन्ध में यहाँ सार्वभौमिकता की उस सनातन दृष्टि (*Philosophia perennis*) का अनुगमन किया गया है जिसके अनुसार परिवार, कुल, जाति और राष्ट्र जैसी संस्थाएँ मनुष्य की नैसर्गिक प्रगति में बाधक न होकर उसकी स्वाभाविक परिपूर्णता और उर्ध्वगामिता की महत्त्वपूर्ण पथप्रदर्शक होती हैं।

जहाँ तक भारतीय/राष्ट्रीय शिक्षा की संकल्पना और उसके स्वरूप का प्रश्न है, हमें भारतीय/राष्ट्रीय शिक्षा के अभिप्राय, स्वरूप और तदनुरूप विधान के सम्बन्ध में सूत्रवत रूप से स्पष्ट होना चाहिए।

- किसी राष्ट्र की जीवन-दृष्टि के अनुरूप उसके नागरिकों को ढालने की विधा ही शिक्षा है - स्वाभाविक ही शिक्षा का स्वरूप राष्ट्रीय ही होगा।
- अतः, जीवन-दृष्टि (विश्व-दृष्टि) - शिक्षा-दृष्टि - शोध-दृष्टि में एकसूत्रता और तारतम्यता अनिवार्य है।
- इस अर्थ में शिक्षा का प्रश्न एक संस्कृतिपरक-सभ्यतापरक प्रश्न भी है।
- भारत एक धर्मप्राण अधिष्ठान है - यहाँ धर्म का लोक-विग्रह ही संस्कृति और संस्कृति का लोक-विग्रह ही सभ्यता है।
- यह भारतीय अधिष्ठान एक विशिष्ट जिज्ञासा-केन्द्रित अधिष्ठान है। यह जिज्ञासा है - मैं कौन हूँ - आत्मबोध यहाँ की मूल जिज्ञासा है - आत्मबोध की प्रकृति ही एकात्मबोधमय है - यह केन्द्रीय विचार समग्र भारतीय जीवन-विधान के दौरान अवान्तर कथा की तरह विद्यमान रहता है। इसी की चाह किसी भी भारतीय उपक्रम का औचित्य तय करती है।
- अतः, भारतीय अधिष्ठान एक आत्मबोध-मूलक अधिष्ठान है।
- अतः, शिक्षा का प्रयोजन आत्मबोध की इस दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को गढ़ने में निहित है।
- दूसरे शब्दों में, शिक्षा यहाँ मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने की कला है।
- अतः, यहाँ की शोध-दृष्टि या विद्या-साधना भी तदनुरूप ही होनी चाहिए।
- भारत में विद्याएँ ब्रह्मविद्या का अंश मानी गई हैं। उनका महत्त्व ब्रह्मविद्या का अंश होने के कारण ही है। शिक्षा इसी ब्रह्मविद्या की मीमांसा है। देवता इन विद्याओं के अधिष्ठान हैं तथा शब्द या शास्त्र इनके प्रमाण हैं।
- इसीलिए किसी व्यवस्था या विचार का धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत होना यहाँ अपरिहार्य माना गया है।
- ब्रह्मविद्या का स्वरूप साधनागम्य या तप-मूलक है - अतः विद्या या शिक्षा का स्वरूप भी यहाँ साधनालभ्य या तपोद्भूत है।

- ऋषि यहाँ वह तपः पुंज है, जिसने विद्या का साक्षात्कार किया है, जो विद्या का साक्षात्, सम्मुख द्रष्टा है।
- भारत में ऋषि-प्रणीत और शास्त्र-प्रणीत शुद्ध विद्या की मीमांसा का एक राजपथ है जिसपर आधिकारिक गुरुओं और सुपात्र शिष्यों की स्वायत्त अथवा सम्प्रदायबद्ध परम्परा चलती रही है।
- इस शास्त्रीय परम्परा के प्रथम सिद्धांत कर्म और पुनर्जन्म, त्रिगुणात्मकता, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ और ऋण-त्रय के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।
- इस प्रथम सिद्धांत (First Principle) युक्त शास्त्रीय परम्परा के आलोक में जीवन्त लोक-परम्परा के उपमार्ग भी भारत में विद्यमान रहे हैं।
- जीवन-दृष्टि, शास्त्र और लोक-परम्परा-तीनों एक साथ प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित होते हैं। (शिक्षा की भारतीय दृष्टि नहीं, जीवन की भारतीय दृष्टि के प्रति ही हमारा आग्रह/ अनुराग नहीं रहा, इसीलिए शास्त्र, शिक्षा, समाज, अर्थ, राज्य - किसी की भी भारतीय दृष्टि के प्रति हमारा आग्रह/अनुराग नहीं रहा।)
- अतः, शास्त्र या धर्म के प्रकाश से प्रकाशित/आलोकित जन को ही यहाँ 'लोक' कहा गया है।
- समाज, अर्थ और राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था इसी शास्त्रानुशासन और जन-आलोकन का माध्यम है।
- दूसरे शब्दों में, शुद्ध विद्याओं का साधना-परिवेश भी तदनुरूप ही परिष्कृत होना चाहिए। अपरिष्कृत संस्थाओं में अथवा विजातीय परिवेश में शुद्ध विद्याओं की साधना नहीं हो सकती।
- कलिकाल में शुद्धता, समग्रता व व्यापकता एक साथ संभव नहीं, द्वन्द्व इसकी नियति है। किन्तु विचार के स्तर पर यथासंभव परिशुद्धता आवश्यक है, ऐसा होने पर आचरण के स्तर पर प्राथमिकताओं और नीति से काम लिया जा सकता है।

शिक्षा को भारतीय अथवा राष्ट्रीय मानने का उपक्रम एक सभ्यतामूलक उपक्रम है। यह सभ्यता की दिशा तय करने वाली दो विश्व-दृष्टियों – सनातन और आधुनिक – के मध्य मूलभूत अंतर के आधार पर तय होने वाला उपक्रम है। आधुनिक विश्व-दृष्टि के विपरीत भारतीय-सनातन परम्परा में जीवन की एकात्मता का आधार वह ऋत है जो व्यष्टि और समष्टि के संरचनात्मक सिद्धांत को अभिव्यक्त करता है। ऋत ही वास्तविकता की वह पृष्ठभूमि है जिसमें व्यष्टि और समष्टि का अन्तर्सम्बंध प्रवाहमान रहता है। ऋत, जिसे आगे चलकर धर्म कहा गया, इस प्रवाहमान व्यवस्था का प्रतिमान तो है ही, यह इकाइयों में व्यवस्था का कारण भी है। जहाँ एक ओर इन इकाइयों में प्रतिबिम्बित हुए बिना एकात्म की, समग्र की कोई इयत्ता नहीं है, वहीं

दूसरी ओर पारस्परिक सम्बद्धता और समग्र से सम्पृक्तता के अभाव में इन इकाइयों की भी कोई महत्ता नहीं है। अतः ऋत के अनुवर्त्तन का आधार यह मान्यता है कि मनुष्य का सम्यक् परिचय उस वृहत् व्यवस्था के सदस्य के रूप में ही मिल सकता है। भारतीय परम्परा में जाति-व्यवस्था के सामाजिक प्रश्न को भी इसी सनातन दृष्टि से स्पष्ट किया गया है। यहाँ जातियों को भी एकात्मक परम विराट् की ही अभिव्यक्ति माना गया है। यहाँ इस बात को अच्छी तरह समझा गया है कि भारतीय जीवन-विधान का आधार ही वर्णाश्रम और पुरुषार्थचतुष्ट्य है। ब्रह्म का त्रिगुणात्मक विवर्त्त और कर्म का सिद्धांत जहाँ वर्णाश्रम के परातात्त्विक (Metaphysical) आधार हैं, वहीं ऋणत्रय का सिद्धांत पुरुषार्थचतुष्ट्य का। इसीलिए यह अनायास नहीं है कि राजशास्त्र का स्वरूप-निदर्शन करते हुए इसके आचार्यों ने भारतीय जीवन-विधान के इन आधारों की रक्षा को राज्य का परम दायित्व बताया है। वस्तुतः, राजशास्त्र समष्टि का शास्त्र है। इसका उपयोग समष्टि हेतु सामाजिक विपर्ययों का प्रतिकार करने में है। राजनीति के प्रयोग से व्यक्ति अथवा समाज के बाह्याभ्यन्तरिक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विषयों में साम्य स्थापित हो जाता है और व्यष्टिगत और समष्टिगत हितों का संयोग हो जाता है। वर्णाश्रम की दृष्टि से इसी कारण समाज के हितार्थ ब्राह्मण दारिद्र्य को, क्षत्रिय प्राण-संशय को, वैश्य चिंता को और शूद्र सेवा को आनन्दपूर्वक स्वीकार करते हैं। मान के साथ दारिद्र्य, ऐश्वर्य के साथ प्राण-संशय, श्री के साथ भार, नैश्चिन्त्य के साथ विनय का संयोग होने से ब्राह्मण अभिमानी, क्षत्रिय उच्छृंखल, वैश्य दुर्व्यसनी और शूद्र असन्तोषी नहीं होने पाते, फलतः समष्टि में सर्वत्र साम्य व्याप्त रहता है।

चूँकि भारतीय सभ्यता और संस्कृति इसी सनातन एकात्म परम्परा का लोक-विग्रह है। इसीलिए यहाँ 'अर्थ' का भी विशेष प्रयोजन है। आधुनिक युग, जिसे अर्थ-प्रधान कहा गया है, वह वस्तुतः अनर्थ-प्रधान है। कृष्ण-यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त में अर्थ-स्वरूपा लक्ष्मी को जगतपालक श्री विष्णु की द्वितीय पत्नी ह्री, अर्थात् लज्जा के साथ स्मरण किया गया है। यह लज्जा साधारण लज्जा नहीं है। इसका प्रधान केंद्रस्थान भारतवर्षीय धर्माचरणशील समाज है जिसे अनादिकाल से शास्त्रा ज्ञा का उल्लंघन करने में लज्जा का अनुभव होता है। केवल ऐसे धर्मशील, लज्जाशील, 'ह्री'-युक्त समाज में ही 'श्री' का निवास हो सकता है। अपने आचरण से च्युत निर्लज्ज समाज के 'अर्थ' को आप व्यवस्थित कर ही नहीं सकते। यहाँ आचार्य कौटिल्य के इस नीति-सूत्र का पुरजोर समर्थन किया गया है कि सुखस्यमूलं धर्मः, धर्मस्यमूलं अर्थः, अर्थस्यमूलं राज्यः। राज्य का यह अनिवार्य दायित्व माना गया है कि वह इस प्रकार की अर्थव्यवस्था करे जिससे लोग अपने धर्म का पालन कर सकें, क्योंकि अर्थ की प्रकृति, अर्थ का प्रभाव या अर्थ का अभाव वे परिस्थितियाँ हैं जो लोगों के धर्मपालन हेतु उपयुक्त वातावरण का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण हैं। सुसाध्य आजीविका का हमारे *दैशिक-शास्त्र* में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी अभिप्राय से आनन्द कुमारस्वामी ने स्वदेशी को 'Sincerity' कहा है।

भारत में राज्य-व्यवस्था का औपकरणीय महत्त्व है। यह भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को उसका परम लक्ष्य प्रदान कराने वाली व्यवस्था की रक्षक अथवा कंटकशोधक है। भारत एक धर्मप्राण अधिष्ठान है - यहाँ धर्म का लोक-विग्रह ही संस्कृति अथवा सभ्यता है। जैसा पहले कहा गया है, यह भारतीय अधिष्ठान एक विशिष्ट जिज्ञासा-केन्द्रित अधिष्ठान है। यह जिज्ञासा है - मैं कौन हूँ - आत्मबोध यहाँ की मूल-जिज्ञासा है - आत्मबोध की प्रकृति ही एकात्मबोधमय है - यह केन्द्रीय विचार समग्र भारतीय जीवन-विधान के दौरान अवान्तर कथा की तरह विद्यमान रहता है। इसी की चाह किसी भी भारतीय उपक्रम का औचित्य तय करती है। अतः, भारतीय अधिष्ठान एक आत्मबोध-मूलक अधिष्ठान है। धर्म (अथवा शिक्षा) का प्रयोजन आत्मबोध की इस दृष्टि के अनुरूप मनुष्य को गढ़ने में निहित है। दूसरे शब्दों में, धर्म यहाँ मनुष्य को आत्मबोध के लिए सुपात्र बनाने की कला है। धर्म की इसी व्यवस्था को यहाँ ऋत ;वतकमतद्ध कहा गया है। राज-विद्या इसी धर्म-व्यवस्था की रक्षक/परिपोषक है। भारत में विद्याएँ ब्रह्मविद्या का अंश मानी गई हैं। उनका महत्त्व ब्रह्मविद्या का अंश होने के कारण ही है। देवता इन विद्याओं के अधिष्ठान हैं तथा शब्द या शास्त्र इनके प्रमाण हैं। इसीलिए किसी व्यवस्था या विचार का धर्मसम्मत या शास्त्रसम्मत होना यहाँ अपरिहार्य माना गया है। इसी प्रयोजन से भारतीय राजशास्त्र में समस्त शास्त्रों के सांगोपांग निर्णय और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्धारण हेतु धर्ममूलक त्रयी का विधान है, संघ-शास्त्रानुष्ठान की एकता हेतु अर्थमूलक वार्त्ता का विधान है, योगक्षेम की रक्षा हेतु राज्यमूलक दण्डनीति का विधान है तथा बुद्धि का स्थैर्य स्थापित करते हुए पारस्परिक द्वन्द्वों का समाधान करने हेतु विद्यामूलक आन्वीक्षिकी का विधान है। ब्रह्मविद्या का स्वरूप साधनागम्य या तप-मूलक है - अतः विद्या का स्वरूप भी यहाँ साधनालभ्य या तपोद्भूत है। ऋषि यहाँ वह तपः पुंज है, जिसने विद्या का साक्षात्कार किया है, जो विद्या का साक्षात्, सम्मुख द्रष्टा है। भारत में ऋषि-प्रणीत और शास्त्र-प्रणीत शुद्ध विद्या की मीमांसा का एक राजपथ है जिसपर आधिकारिक गुरुओं और सुपात्र शिष्यों की स्वायत्त अथवा सम्प्रदायबद्ध परम्परा चलती रही है।

इस शास्त्रीय परम्परा के प्रथम सिद्धांत कर्म और पुनर्जन्म, चराचर का विचार, पुरुष-प्रकृति-संबंध, त्रिगुणात्मकता, वर्णाश्रम, पुरुषार्थ और ऋण-त्रय के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यही प्रथम सिद्धांत आचरण और विधि-निषेध के व्यवहार का आधार हैं। गुण का प्रश्न तात्त्विक प्रश्न है, यह अस्तित्व का दर्शन है तथा इसपर आधारित वर्णाश्रम का मुख्य प्रयोजन वृत्ति का संरक्षण है और इसका अनुपालन राज्य का आधारभूत कर्त्तव्य है। स्पष्ट ही ये व्यवस्थाएँ मनुष्य की इच्छा, कामना अथवा परिस्थिति की उपज नहीं हैं।

भारतीय राज्य-व्यवस्था का स्वरूप आधुनिक राज्य की भाँति न तो शक्ति-केन्द्रित है और न ही संरचना-मूलक, वरन् यह तत्त्व-प्रधान है। सनातन धर्म के ये प्रथम सिद्धांत ही इस तत्त्व की प्रकृति का निरूपण करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि जो रामराज्य भारतीय

राज्य-व्यवस्था का आदर्श माना जाता है उसमें राजा और राज्य का संबंध जीवन-मरण का संबंध है। भगवान राम अपनी समस्त प्रजा की मोक्ष की कामना के साथ राज्य करते हैं। यह राम की अविचल धर्मनिष्ठा, उनके तप, तेज और प्रताप का प्रभाव है कि उनकी प्रजा भी धर्मनिष्ठ और निश्चिंत है, उनके राज्य में देवता और पितर संतुष्ट हैं तथा परिणामस्वरूप प्रकृति मनोरम है, जीवन समृद्ध है और राज्य स्थिर है।

इसी प्रकार, यहाँ लोकतंत्र का तात्त्विक अर्थ भी केवल विकेंद्रीकरण तक सीमित नहीं है। 'लोक' का तात्पर्य धर्म के प्रकाश से, चिति के प्रकाश से 'आलोकित' जन से है। केवल ऐसे ही जन का सुशासन संभव है, केवल ऐसे ही 'लोक' का 'तंत्र' सम्भव है। धर्म के आलोक के अभाव में शासन की व्यवस्था चाहे केन्द्रित हो अथवा विकेन्द्रित - एक निरंकुशता को जन्म देगी तो दूसरी अराजकता को। आधुनिक व्यवस्था में जिसे लोकतंत्र कहा जाता है वह एक संदर्भहीन और विसंगतिपूर्ण व्यवस्था है। यह आम मनुष्य की असहमति-आधारित मतगणना पर आधारित वह व्यवस्था है जो श्रेष्ठता और योग्यता की सामाजिक स्वीकृति का अन्य कोई आधार नहीं मानती। मनुष्य और परिवार के आधार पर असहमति को बढ़ावा देने वाली यह व्यवस्था राष्ट्र के निर्णायक प्रश्नों के संबंध में सहमति की असंभव खोज करती फिरती है।

भारतीय राज्य-व्यवस्था की पुनर्प्रतिष्ठा करने की दिशा में सबसे प्रमुख आवश्यकता यह है कि अपने वैचारिक अधिष्ठानों को शुद्ध करने का प्रयास किया जाए। आधुनिक युग के विचारों और विचारकों के बारे में बहुत सावधानी और सतर्कता बरतने की आवश्यकता है। हम इस युग की अवहेलना भी नहीं कर सकते क्योंकि आधुनिक युग के चुनौतीपूर्ण प्रश्नों को समझने के लिए इस युग की गत्यात्मकता की समझ भी अपरिहार्य है। हमारे राजनीतिक विमर्श में कई ऐसी अभारतीय और अपरम्परागत अवधारणाएं प्रविष्ट करा दी गई हैं जो भारतीय संदर्भों से रहित हैं किन्तु उन्हें भारतीय शब्द प्रदान कर दिए गए हैं। Democracy के लिए लोकतंत्र, Liberalism के लिए उदारवाद, Right के लिए अधिकार, Sovereignty के लिए संप्रभुता, Freedom of Choice के लिए स्वतंत्रता, Equality के लिए समानता, Justice के लिए न्याय, Welfare State के लिए कल्याणकारी राज्य, Law के लिए विधि तथा Tolerance के लिए सहिष्णुता इसी प्रकार के अर्थ-विपर्ययुक्त तथा संदर्भहीन प्रयोग हैं। इसके विपरीत भारतीय राज्य-व्यवस्था को समझने के लिए जिन आधारभूत प्रत्ययों और संदर्भों की अपरिहार्यता है उनके आधुनिक पर्याय अनुपलब्ध होने की दशा में उन्हें अकादमिक विमर्श से लगभग बाहर कर दिया गया है। ऋत, चिति, विराट्, अभ्युदय, देश, राष्ट्र, जाति, प्रताप, ऐश्वर्य, तेज, तप, पुरुषार्थ, गुण, ऋण, अर्थ, विज्ञान, संस्कृति, इतिहास तथा काल और काल-बोध से संबंधित अवधारणाओं को इस श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है। अतः इन शब्दों के पुनर्परिभाषीकरण तथा स्वपरिभाषीकरण की महती आवश्यकता है। इसी प्रकार परम्परागत भारतीय दृष्टि से विषयों और विचारों तथा उनके अन्तर्सम्बंधों का अध्ययन भी आवश्यक है। कुल मिलाकर

आधुनिक विश्व-दृष्टि का विकास-क्रम, उसकी चुनौतियों, भारतीय विचार-दृष्टि पर उसके प्रभाव तथा उसके प्रत्युत्तर का समानस्तरीय प्रयास करने की आवश्यकता है। यदि व्यापक राजनीतिक फलक पर इन विचारों का अनुप्रयोग संभव न हो तो सामुदायिक, सांस्कृतिक और अकादमिक फलक पर इनके प्रयोग को आत्मविश्वासपूर्वक आरम्भ करने की आवश्यकता है।

अतः, राष्ट्र की भारतीय अवधारणा को धर्म, संस्कृति, शिक्षा, समाज और राजनीति की सनातन धारणाओं के व्यापक और समेकित फलक पर ही समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

●

सहायक संदर्भः

1. A.K. Coomaraswamy: *Essays in National Idealism*, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1981 (Originally puiblished in 1909).
2. मो.क. गाँधीः *हिन्द स्वराज.*
3. बाल गंगाधर तिलकः *गीता रहस्य.*
4. Rabindranath Tagore: *Nationalism*, Macmillan, Madras,1985 (Originally published in 1917).
5. बद्रीशाह ठुलघरियाः *दैशिक-शास्त्र,* चित्रशाला प्रेस, पूना, 1921.
6. स्वामी करपात्रीजी : *मार्क्सवाद और रामराज्य,* गीताप्रेस, गोरखपुर, 1957.
7. A. O. Lovejoy: *The Great Chain of Being*, The Harvard University Press, Cambridge (USA), 1957.
8. दीनदयाल उपाध्यायः *एकात्म मानववाद पर चार व्याख्यान,* बम्बई, 22-25 अप्रैल, 1965.
9. Gopinath Kaviraj: *Aspects of Indian Thought*, University of Burdwan, Burdwan, 1966.
10. श्री अरविन्दः *भारतीय संस्कृति के आधार,* श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, 1968.
11. Simone Weil: *The Need for Roots*, Routledge Classics, London and New York, 2002.
12. Ramashray Roy: Modernity and the Search for Wholeness (*Sarvata*), *Second Ananda Coomaraswamy Lecture*, Coomaraswamy Centre for Traditional Studies, Lucknow, August 21, 2010.
13. राकेश मिश्रः 'भारतीय पुनर्जागरण एवं आनन्द कुमारस्वामी', *तत्त्व-सिन्धु,* कुमारस्वामी फाउण्डेशन, लखनऊ, 2014.

पाठक-विहीनता से शोकग्रस्त हिन्दी साहित्य

रमेश दवे*

भाषाएँ जन में जीवित रहती हैं और साहित्य में सम्मानित। हम कितना ही थोथा गर्व कर लें कि हिन्दी देश की सबसे बड़ी भाषा है; उसे गाँधी से लेकर तमाम महान् नेताओं ने राष्ट्रभाषा माना था; उसने बड़े साहित्यकार और उत्तम साहित्य रचा; लेकिन, ये सारे गर्व के दावे पाठकीय उपेक्षा से समारोही पाखण्ड बनकर रह गए हैं। साहित्य किसी भी साहित्यकार के लिए स्वान्तः सुखाय ही नहीं होता, वह लोक-संस्कार का माध्यम होता है; वह भाषा की सृजनात्मक पहचान होता है। एक समय था, जब हिन्दी साहित्य खूब पढ़ा जाता था और तुलसीदास या भक्ति काल, रीतिकाल और सूफी साहित्य को छोड़ दें, तो बीसवीं सदी का प्रारंभिक काल न केवल महान् साहित्यकारों के साहित्य का काल था, बल्कि साहित्य के पाठकों का भी काल था। उस काल में केवल प्रेमचन्द ही नहीं पढ़े गए, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी पढ़े गए; देवकी नन्दन खत्री पढ़े गए; भगवती चरण वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर से लेकर तत्कालीन अनेक रचनाकार पढ़े गए। राष्ट्रीय काव्य पढ़ा गया और मैथिलीशरण गुप्त राष्ट्रकवि हो गए। भारत भारती स्वतन्त्रता-संग्राम की प्रिय-पुस्तक बन गई और माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, दिनकर आदि कवियों की काव्य-वाणी ने जन-जन में राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक गौरव की चेतना पैदा कर दी। छायावाद के महान् कवि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी हिन्दी भाषा और साहित्य के गौरव व्यक्तित्व बन गए और हिन्दी एक अस्तित्ववान एवं व्यक्तिवान भाषा बन गई। हिन्दी ही नहीं उस काल के पाठकों ने बांग्ला, मराठी, गुजराती एवं अन्य भारतीय भाषाओं का अनूदित साहित्य भी इतना पढ़ा कि ऐसा लगा जैसे भारतीय भाषाएँ हिन्दी-पाठकों के पास आकर धन्य हो गई हों; अधिक चमकदार और सम्मानित हो गई हों। दुर्भाग्य यह रहा कि हिन्दी पाठकों ने जितना अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य पढ़ा, उतनी ही उपेक्षा अन्य भारतीय भाषा के रचनाकारों और पाठकों से सही। क्योंकि उन्होंने न तो हिन्दी साहित्य पढ़ा, न हिन्दी का देश की सबसे

* सम्पर्क : एस.एच. 8/19 सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

बड़ी भाषा के रूप में सम्मान किया। वह काल पाठक के पुस्तक प्रेम का काल था। लेकिन, अब पुस्तक प्रेम का अकाल है।

भाषा अपना श्रेष्ठतम् रूप तो साहित्य में ही धारण करती है और इस श्रेष्ठतम् रूप की रचना साहित्कार करता है। साहित्य की समस्त विधाएँ यह सिद्ध करती हैं कि भाषा की शक्ति, सामर्थ्य और सृजनात्मकता कितनी विविध और कितनी आकर्षक है। साहित्य में आकर ही तो कल्पना, सौन्दर्य, संवेदन, यथार्थ, कला, अमूर्त; सब सार्थक होते हैं। जिस भाषा का साहित्य नहीं होता, वह भाषा शून्य में भटकती निरर्थक भाषा होती है।

हिन्दी साहित्य का पाठक-विहीन होना यदि भाषा का शून्य पैदा करता रहा, तो एक दिन हिन्दी को दिवंगत भाषा के अतीत में डालकर मृत इतिहास की बे-आवाज भाषा बना दिया जाएगा। साहित्य की रक्षा का सबसे बड़ा दायित्व तो स्वयं साहित्यकारों पर ही है। राजनीतिक विधारधाराओं के कठमुल्लायन में साहित्य और साहित्यकार की खाँचेबाजी से क्या श्रेष्ठ साहित्य पर विचारधाराओं के कफन नहीं डाल दिए जाएँगे? साहित्यकारों के इस क्षुद्र व्यवहार से हम किसे बड़ा बना रहे हैं? साहित्य और साहित्यकार को या विचारधारा की टुच्ची राजनीति को! जो लोग बौद्धिकता के घमण्ड से आह्लादित हैं, वे भी कितना बढ़ रहे हैं; कितना ऐसा लिख रहे हैं कि उनसे साहित्य-रचना के साथ पाठक-रचना भी हो? जिन्हें बौद्धिकता-विहीन होने की जड़ताग्रस्त टोपियाँ पहनाकर उनके अपढ़ होने के अपशब्दी हार पहनाए जाते हैं, वे भी स्वयं को जड़ बनाए रखने और कहलाने में थोथे सांस्कृतिक-गौरव से अभिभूत होते हैं। जड़ताएँ हर विचारधारा, हर मंच, हर संस्था और हर राजनीतिक साहित्यकार का तर्पण कर रहे हों।

साहित्य की श्रेष्ठता का सबूत जड़ता नहीं गतिशीलता होती है। साहित्य को गतिशीलता मिलती है उसके सुधी पाठकों से; पाठक पढ़ेगा, आलोचक मूल्यांकन करेगा, प्रकाशक श्रेष्ठता को प्रचारित करेगा, तब जाकर तो साहित्य लोकव्यापी होगा। अपनी भाषा से प्रेम, अपने साहित्य के प्रति संवेदनशील आकर्षण और अपने साहित्यकार के प्रति निभ्रान्त, निर्गुट एवं निःस्वार्थ सम्मान जब तक साहित्यकार और पाठक का संस्कार नहीं बनता, तब तक हिन्दी में कचरा-उत्पादक रचनाकारों की विज्ञापनी भीड़ पैदा होती रहती है और उत्तम साहित्य उपेक्षा के बन्दी-गृह में सिसकता रहेगा।

साहित्य भाषा की आत्मा होता है। पाठकों की प्रतिक्रिया साहित्य की प्राणवायु होती है। यदि हम निराला और नागार्जुन को एक तरफ और दूसरी तरफ प्रसाद, पन्त, महादेवी, अज्ञेय आदि को रखकर मंचग्रस्त कबड्डी खेलते रहे; तो क्या हम चाहते हैं कि साहित्य का इतिहास हमारे छात्र, पाठक और शोधार्थी ऐसा पढ़ें, जिसमें लिखा हो कि मुक्तिबोध महान थे– अज्ञेय बौने; नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, शमशेर

महान् थे और धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे आदि अत्यन्त लघु-मानव। हिन्दी में ऐसी आलोचक पीढ़ी क्यों पैदा नहीं हुई, जो साहित्य के पाठक पैदा करती। अच्छे साहित्य और साहित्यकार को प्रोजेक्ट करती और प्रकाशकों पर दबाव पैदा करती कि वे धन्धा तो करें, मगर धन्धा ऐसा न हो कि वह श्रेष्ठ रचना का उजाला ही काला कर दे।

हमने बीसवीं सदी के अन्त तक महान् साहित्यकार दिए। मुक्तिबोध, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती, कुँवरनारायण, केदारनाथ सिंह, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, विजय देवनारायण साही आदि ऐसे साहित्यकार हैं, जो छायावाद के कवियों और प्रेमचन्द, रेणु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, यशपाल आदि से आगे के रचनाकार हैं। बीसवीं सदी ने इतने बड़े साहित्यकार दिए हैं कि उनसे हिन्दी साहित्य समृद्ध भी हुआ और तत्कालीन पाठकों को श्रेष्ठ साहित्य पढ़ने एवं शोधार्थियों को उन पर शोध करने की सामग्री मिली। ऐसा नहीं कि उनके बाद अच्छा साहित्य नहीं रचा गया। विचारधारा-बद्ध और विचारधारा-मुक्त दोनों ही धाराओं में अच्छे साहित्यकार आए; लेकिन उनको पढ़ने वाले कम होते-होते इतने कम हो गए कि इक्कीसवीं सदी पाठकों के सन्नाटे की सदी बन गई। आलोचना की अंत्येष्टि की सदी बन गई और प्रकाशकों की लालची लड़ाई बन गई; जिसने सरकारी खरीदी का ऐसा वीभत्स पुस्तक-युद्ध छेड़ दिया, जो शास्त्र की श्रेष्ठता के बजाय थोक-खरीदी के भ्रष्ट तरीकों से लड़ा गया और इस प्रकार स्कूलों, कॉलेजों, ग्रन्थालयों में ऐसा साहित्य पहुँचा जिसमें से अधिकाँश केवल परचून की दुकान पर पुड़िया बाँधने के काम का था।

पाठक-प्रेम के कुछ किस्से ऐसे हैं, जिन्हें सुनकर हँसी आती है। एक तथाकथित आत्मघोषित महान् साहित्यकार से जब यह पूछा गया कि आजकल क्या पढ़ रहे हैं? कोई नया कवि, कथाकार, आलोचक ऐसा है; जिसने आपको प्रभावित किया हो? उत्तर था—नए को पढ़ता नहीं, क्योंकि उनमें कोई दम नहीं; पुरानों को पढ़ चुका अब वे आउट-डेटेड यानी स्मृति विहीन हैं। इसलिए मैं स्वयं को ही पढ़ता हूँ और स्वयं से ही प्रभावित हूँ। एक अन्य अत्यन्त पढ़े-लिखे देशी-विदेशी पाठक एवं साहित्यकार से जब यह पूछा कि हिन्दी में किस साहित्यकार को आप पढ़ रहे हैं? जवाब था— हिन्दी के तमाम साहित्यकार तो मूर्ख और अनपढ़ हैं। उनको पढ़ना अपना समय बर्बाद करना है। इसलिए मैं हिन्दी साहित्य पढ़ता ही नहीं। हाँ, इतना ज़रूर है कि मैं स्वयं हिन्दी में ऐसा लिखता हूँ और जिसकी ऑल इण्डिया लेवल पर प्रतिष्ठा है और विदेशों में जाकर भी मैं साहित्य पाठ करता हूँ और नया विदेशी साहित्य लाकर पढ़ता हूँ। उनके लिए अज्ञेय अपठनीय है; मुक्तिबोध अ-लिखनीय या अनालोचनीय है; नागार्जुन भी कोई कवि है? इस तरह बीसवीं सदी के कुछ नाम छोड़कर सब उनके लिए पढ़ने योग्य नहीं और इक्कीसवीं सदी का साहित्य तो अभी शुरू ही नहीं हुआ है।

एक तीसरे बौद्धिकता के दम्भ से भरे-भरे रचनाकार से पूछा, तो उनका कहना था मैं ही ठीकठाक हिन्दी लिख लेता हूँ। शेष तो सब कूड़ा है एक और महान् साहित्यकार का कहना है कि आलोचक पैदा ही नहीं किया। सबके सब पूर्वाग्रहग्रस्त, विचारधारा के वामांगी या दक्षिणांगी हैं, और उनकी आलोचना या तो प्रशंसा-पत्र हैं या निन्दा पत्र साहित्य वामांगी दक्षिमांगी नहीं होता वह तो सर्वांगी होता है। वह जाति और धर्मनिरपेक्ष होता है।

यदि हिन्दी के लेखकों के लिए हिन्दी भाषा और उसका साहित्य इतना ही अपमानजनक है, अपेक्षणीय है, तो वे स्वयं अंग्रेजी या किसी यूरोपीय, लातीनी भाषा में लिखकर किसी येट्स, एलियट, बोर्खेज, मार्क्वेज, इटेलो कैल्विनो आदि को टकराकर देखें। थोड़ा-सा शेक्सपीयर, बर्नार्डशॉ, दाँते, होमर, जॉनसन आदि परीक्षा पास कर लेने के लिए पढ़ लेना क्या विदेशी साहित्य का आत्म कुंठित मर्मज्ञ हो जाना है? हिन्दी भारत की सबसे बड़ी भाषा, जिससे हिन्दी के सर्वाधिक छोटे रचनाकार और पाठक जुड़े हैं हिन्दी देश के सत्तर प्रतिशत जन की भाषा है। मगर सात प्रतिशत भी उसके साहित्यिक पाठक नहीं; यह एक भाषा का कितना बड़ा अपमान है? जहाँ तक विश्वविद्यलयों, कॉलेजों का प्रश्न है, वहाँ भले ही हिन्दी विभाग हो; लेकिन हिन्दी का प्राध्यापक सर्वाधिक आलसी, अध्ययन विहीन और राजनीति की तिकड़मबाजी से ग्रस्त हैं। हिन्दी के प्राध्यापकों ने तो डेढ़-पौने दो लाख के मासिक वेतन को अपनी अध्ययनहीनता और अकर्मण्यता का वजीफा बना रखा है। इस भीषण दायित्वहीनता पर न प्रशासन का जोर है न प्राचार्यों का ज़ोर और छात्र तो स्वयं ही कक्षाओं में अनुपस्थित रहकर अध्यापकों का परोक्ष सहयोग कर रहे हैं। जो प्राध्यापक राजनीतिज्ञों से जुड़ें हैं; वे काम न करने को अपना संवैधानिक अधिकार मानते हैं। उन पर न प्राचार्य का वश, न प्रशासन का। वे अकर्मण्यता को आत्म घोषित संवैधानिक अधिकार मानते हैं। वे अकर्मण्यता के आत्म-घोषित तानाशाह हैं। महिला प्राध्यापक तो राजनीति के हौसले पर सवार होकर पुरुषों से आगे हैं। उसने अपने एम.ए. तक जो पढ़ा, वही उसके ज्ञान का भण्डार है। नया उसे अगर मालूम है, तो केवल लोकार्पणों के सजीले समारोहों के जरिए, जहाँ वह आयोजक, संयोजक, अध्यक्ष या मुख्य अतिथि है। हिन्दी में अनपढ़ों की ऐसी भीड़ पैदा हो गई है, जिसका प्रेम न पुस्तक से है; न रचना से है; न रचनाकार से, अगर प्रेम है तो अपने प्राध्यापकीय पद के नाम पर अध्यक्ष या मुख्य अतिथि बनने से। हिन्दी भाषा और साहित्य की जितनी हानि विश्वविद्यालय और कॉलेजों के आलसी आरामगाह कर रहे हैं; उसकी तुलना वे स्वयं अपने यहाँ के अंग्रेजी साहित्य या विज्ञान-विभाग से करके देखें। वे आज भी अपने विषय के प्रति वफादार हैं; जबकि हिन्दी के विभाग हिन्दी को अपने ही प्राध्यापकों एवं हिन्दी संस्थाओं को। अनेक संस्थाएँ हिन्दी साहित्य का जितना अच्छा

काम कर रही हैं; क्या उनकी तुलना में वैसा संवाद, वैसी संगोष्ठी, वैसी वर्कशॉप, वैसी साहित्य की प्रस्तुति विश्वविद्यालय और कॉलेज कर पा रहे हैं?

हिन्दी एक संभावनावान भाषा है। उसके पास एक पढ़ा-लिखा आधुनिक चेतना से सम्पन्न समाज भी है। अनेक ग्रन्थालय हैं; व्यक्तिगत घरेलु पुस्तक-संग्रह के प्रेमी हैं और थोड़े-से अच्छे पाठक और लेखक भी हैं। आलोचक-समीक्षा श्रेष्ठता के मानदण्ड पर दोयम दर्जे के हैं। कुछ युवा आलोचक प्रकट हुए हैं; लेकिन वे भी अपने अहंकार की खोल ओढ़कर साहित्य के बंजर भूखण्ड में पड़े हैं। ऐसे में क्या किया जाए? क्या हिन्दी भाषा को साहित्य से निष्कासित या निरस्त कर दिया जाए? क्या जिस प्रकार पश्चिम के साहित्य, साहित्यकार, विचार सबके अवसान की घोषणा कर कम्प्यूटर कल्चर का जो जुलूस पैदा कर दिया है, उसके समक्ष हिन्दी और हिन्दी साहित्य के अवसान की भी सार्वजनिक घोषणा कर दी जाए?

जो देश अपनी भाषा में नहीं जीता, अपना साहित्य नहीं पढ़ता, अपने साहित्यकार की उपस्थिति और अस्तित्व को स्वीकार कर उनका सम्मान नहीं करता और जिस भाषा में केवल लोकार्पणी साहित्य और साहित्यकारों की चीखें गूँज रही हों, वहाँ क्या हिन्दी भाषा का तेज हरण नहीं हो जाएगा? वहाँ क्या हिन्दी का साहित्यकार अपने न पढ़े जाने का मातम नहीं मनाएगा? क्या यह नहीं लगता कि हिन्दी साहित्य अब हिन्दी के पाठकों की अरुचि, उपेक्षा और अपमान का शोकगीत बन गया है?

•

समकालीन संवेदना और रचनाधर्मिता

डॉ. श्रीराम परिहार*

संवेदना का सीधा सम्बन्ध मनुष्य होने से है। संवेदना का हालाँकि कोई माप नहीं होता। फिर भी उसके घनत्व के आधार पर व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति और उसके सामाजिक-व्यावहारिक आधार का अनुमान लगाया जा सकता है। संवेदना कोई वस्तु या पदार्थ नहीं है कि चाय की प्याली में उसे नापा जा सके, परन्तु चाय की प्याली से उठते हुए भाव में संवेदना की आर्द्रता का अनुमान किया जा सकता है। संवेदना का यह मसला दार्शनिक क़िस्म का नहीं है। वह हमारे समकाल और दिक्काल को छूने वाला अहम् सवाल है। समकाल और दिक्काल के बीच होने के बाद भी मेरे ख़याल से संवेदना अखण्ड ही रहती है। भावों की न कोटियाँ होती हैं और न ही उनका विभाजन होता है। वेदना का क्या विभाजन होगा? लेकिन सम्भवतः उसे समय और स्थान के सन्दर्भ में जाँचा-परखा जा सकता है या कहना अधिक ठीक होगा कि समय के सरक जाने और स्थानों के फ़ासले हो जाने से संवेदना के स्वरूप पर भी सापेक्षता गढ़ी जा सकती है।

जब हम 'समकालीन संवेदना' पद का प्रयोग करते हैं, तो समय के खण्ड विशेष में तैरते हुए संवेदना को पकड़ना चाहते हैं। या संवेदना के उतने ही व्यक्तित्व को देख रहे होते हैं जो समकाल की परिधि में दिखाई दे रहा होता है। आकाश केवल उतना ही नहीं होता, जितना हम अपनी आँखों से देखते हैं। अतः मानव अन्तर-स्थित प्रेम, करुणा, वेदना आदि भावों के हिस्से नहीं किए जा सकते। नृतत्व विज्ञान के आधुनिक निष्कर्षों के आधार पर यह तथ्य सामने आया है कि मानव-चित्त एक है। वेस्टरमार्क ने मनुष्य के अनेक बाह्य आचरणों के परस्पर विरोधी तथ्यों का संकलन करके यही नतीजा निकाला कि Man after all is a single species. सब होते हुए भी मनुष्य एक ही जीव-श्रेणी का प्राणी है। ऊपरी भेद नगण्य हैं। जीव तात्त्विक संवेग समान

* डॉ. श्रीराम परिहार, ललित निबन्धकार, नवगीतकार, समीक्षक; पता : आजाद नगर, खण्डवा-450001 (म.प्र.)

भाव से सर्वत्र मानस-सूक्ष्म-बोधों को उकसाते हैं। इस निष्कर्ष से समय और स्थान की सापेक्षता भावों के सम्बन्ध में असहाय हो जाती है।

जीव तात्त्विक संवेग ही व्यक्ति को जड़ता के ख़िलाफ़ उकसाते हैं। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के विरुद्ध आकाशमुखी क्रिया पैदा करते हैं। इन संवेगों का विस्तारित और क्रियाशील रूप मानव चेष्टाओं में प्रकट होता है। मानव संवेगों के मूल में आनन्द वृत्ति है। भारतीय आनन्दवाद या कामायनी के उत्तर का पर्यावसान जिस आनन्द में होता है, वह व्यक्ति संवेगों की मूलता में निहित रस की ही उदात्त परिणति है। यह रस अपने स्वरूप और स्वभाव में ललित ही है। यह ललित ही भिन्न-भिन्न संवेगों की छलकन में इस जगत में रूपायित होता रहता है। फ्रांक थीस नामक जर्मन विद्वान ने कहा कि नृत्य वस्तुतः जड़ के गुरुत्वाकर्षण पर चैतन्य की विजयेच्छा का प्रयास है, क्योंकि इसकी मुख्य प्रवृत्ति भार की अवगति को अभिभूत करने की है। यह विजयेच्छा कला के क्षेत्र में और अधिक उल्लास के साथ प्रकट होती है। यह नृत्य, चित्र, शिल्प और साहित्य में जड़ता से संघर्ष के रूप में प्रकट होती है। जड़ता के ख़िलाफ़ संघर्ष के कारण ही जीवन संवेगों का एक रूप संवेदना के माध्यम से प्रकट होता है। वेदना की उत्पत्ति के मूल में ही आनन्द का अभाव है। उसी की प्राप्ति के लिए वेदना क्रियाशील होती है और इस वेदना की अर्थसीमा जब व्यक्ति-सीमा से छूट कर समिष्टि तक प्रसारित हो जाती है, तब संवेदना का व्यक्तित्व उभरता है।

व्यक्ति चित्त एक है। अर्थात् सृष्टि के सारे मनुष्यों के चित्त की आन्तरिक बुनावट एक-सी है। तब बहुत गहरे में एक की मुक्ति हेतु छटपटाहट सारी मानव-त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट है। अन्यथा आँसू की 'घनीभूत पीड़ा' विस्तारित होकर 'कल्याणी शीतल ज्वाला' न बन पाती। इस स्थिति में संवेदनात्मक ज्ञान क्रियाशील होता है। अतः इस नाना-रूप वाली सृष्टि में व्यक्ति वस्तु जगत या बाह्य जगत से जुड़ता है। इस प्रयास के मूल में उसके चैतन्य का विस्तार ही है। व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति के द्वारा स्वयं को फैलाता है। वह बाह्य संसार से जुड़ता है। उसे समझता है। फिर उसमें अपने हिसाब से परिवर्तन करता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे देखना, रचना और जानना कहा है। जिसके कारण प्रत्येक वस्तु शुद्ध निरपेक्ष भाव से नहीं देखी जा सकती। संवेदना का धरातल तो गाढ़ विषयीपरकता से भरा हुआ है।

पंत 'परिवर्तन' नामक कविता में जिस धरातल पर बात करते हैं, संवेदना की ज़मीन वही है। यह ज़मीन 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' की स्रोत-भूमि भी है। दीनता, दैन्य, दौर्बल्य इस संसार में हैं; जिनके कारण वेदना है। संवेदना उसी दीनता, दैन्य, दौर्बल्य को धक्का देना चाहती है। यह किसी भी समय में हो, संवेदना का रूप बदलता नहीं है। ऐसा नहीं होता कि हमारे समकाल की संवेदना और पुराकाल की संवेदना के मूल चेहरों में भिन्नता है। जब मानव चित्त एक है, तो संवेगों की छवि

भी सभी कालों में मूलतः एक-सी होगी। क्या महाभारत युद्ध में मरने वालों की पीड़ा और अफगानिस्तान के युद्ध में मरने वालों की पीड़ा में अन्तर होता है? मरण की स्थिति में फ़र्क़ हो सकता है; परन्तु मरण की पीड़ा का अर्थ तो एक-सा होगा और अनाचार से मानव को मुक्ति की कामना की पवित्रता में भी संवेदना के धरातल पर कोई भिन्नता नहीं होगी। मूलतः संवेदना समय और स्थान से निरपेक्ष होती है।

देखा जाए तो समकालीन संवेदना की धारणा के पीछे दो बिन्दु काम करते हैं। पहला तो यह कि हमारे 'ईगो' के आसपास संवेदना का घेरा बनते चले जाना और दूसरा काल की अवधारणा के साथ मानव चेतना के सम्बन्धों में बदलाव आना। दोनों ही क्षेत्रों में भारत की स्थिति पश्चिम से भिन्न रही है; और है। ऊपर जिन संवेगों की अक्षुण्ण और अखण्ड स्थिति की चर्चा हमने की है, वे संवेग व्यक्ति से निकलकर उसके आसपास ही एक मायावी और कातर संसार में उलझकर रह गए। अतः सार्त्र का अस्तित्ववाद मानव संवेगों के विस्तार को निजी स्तर पर खोलते हुए भी समाज स्तर पर रोकता है। परिणाम में हमारी संवेदनाएँ चाय की चुस्कियों के साथ भीतर कम गहराती हैं; सुबह की भोगवादी धूप में भाप बनकर ज़्यादातर उड़ जाती हैं। उड़ जाने का अर्थ कि ये उठती हैं और बिना गहरे प्रभाव डाले आकाश हो जाती हैं।

काल की जिस चक्रीय अवधारणा में भारत अपने चिन्तन-मनन की वेदिका बनाता आया है, ऐसा पश्चिम के पास नहीं है। पश्चिम की काल की अवधारणा रेखीय होने के कारण वहाँ की दृष्टि में शाश्वत् जैसा या पुनर्जन्म जैसा कुछ नहीं है। यह साधारण बात नहीं है कि भारत ने काल की अनन्तता के साथ जीवन की अनन्तता में विश्वास किया और जीवन की अनन्तता के भीतर उसने संवेदनों का एक जीवित संसार खोजा। इन संवेदनों के छाते के नीचे उसने समूची सृष्टि को देखा। सौ साल पहले तक इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवी इसी विश्वास में जीते रहे कि काल का आरम्भ सिर्फ छह हजार साल पहले हुआ था और उनकी मान्यता में यह पृथ्वी ईश्वर द्वारा ईसा से कोई चार हज़ार साल पहले बनाई गई थी। पहले डार्विन और बाद में आइंस्टीन ने काल की इस अवधारणा को तोड़ा। इस घटना के बाद भी काल के सम्बन्ध में खण्ड दृष्टि वहाँ ख़त्म नहीं होती है। जीवन को भी परिणामस्वरूप खण्ड में देखा गया और जीवन-स्थिति संवेदनों को भी कालबद्ध जाना-समझा गया। फ्रायड के चिन्तन ने अन्तर्मुखता और आत्मपरकता को स्थापित कर संवेदना के विस्तार की सम्भावना पर चोट की। काल सम्बन्धी खण्ड मान्यता के कारण संवेदना को भी काल सापेक्ष सम्बोधन प्राप्त हुआ।

वैश्विक स्तर पर ग्लोबलाइजेशन और स्थान के संकुचन के कारण एक क्षेत्र में प्राप्त निष्कर्षों का असर दूसरे क्षेत्र में पड़ना स्वाभाविक है। मनोविश्लेषणवादी और अस्तित्त्ववादी दृष्टि का असर कमोबेश भारतीय जीवन-दृष्टि पर भी पड़ा और चाय के प्याले में व्यक्ति अपनी सारी और ख़ूबसूरत सुबह को डुबोने लगा। तब शायद बक़ौल

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को यह पूछने की ज़रूरत महसूस हुई कि 'यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में लाश पड़ी हो तो क्या तुम/दूसरे कमरे में गा सकते हो?' तब हमारी संवेदना ने समकालीन विश्ववाद, विश्वग्रामवाद और बाज़ारवाद की आड़ में स्वयं को सुरक्षित करना आरम्भ किया। दरअसल यह पश्चिम के व्यक्तिवादी केन्द्रीकरण का चरम बिन्दु है; जो व्यक्ति के स्वकेन्द्रण, जातियों के नस्लवाद और राष्ट्रों के आर्थिक विस्तारवाद में अपनी विद्रूप परिणति देख रहा है।

ऐसे दौर में रचनाधर्मिता का चेहरा कैसा हो? तब क्या साहित्य भी वस्तु की तरह बाजार हो जाए? या अपने क्रोड़ में बाजारवाद के वे तमाम मूल्य समाहित कर ले, जिनके चलते व्यक्ति भी वस्तु से ज़्यादा कुछ नहीं रह पाता। क्या रचनाधर्मिता 'गीत-फरोश' बनकर साहित्य की दुकान लगाए? लेकिन कविता के अन्त में भवानी प्रसाद मिश्र कहते हैं– 'गीत बेचना पाप है।' यह पाप-बोध कलाकार को रचनात्मक मूल्यों की ओर मोड़कर मूल्य संबंधित रचना के लिए प्रेरित करता है। यह मूल्यवत्ता यदि पाप के भय से आती है, तो सही रचना हो ही नहीं सकती। क्योंकि भय न व्यक्ति को और न ही साहित्य को सही जगह और सही स्वरूप में खड़ा रहने देता है। यह रचनात्मक मूल्यवत्ता सहज आना चाहिए। यह किसी अभाव की पूर्ति की सहज कोशिश में आना चाहिए। इसीलिए अज्ञेय एक जगह कहते हैं कि 'आज का हिन्दी साहित्य अधिकांश में अतृप्ति का या कह लीजिए लालसा का, इच्छित विश्वास का साहित्य है।' विश्वग्रामवाद ने उसकी सुरक्षा पर और बाज़ारवाद ने उसके सन्तोष पर हमला किया, इस कारण रचनाधर्मिता भी संवेदनशीलता के बजाय अतृप्त आकांक्षाओं और आत्मरति का प्रतिबिम्ब साहित्य में खोजने लगी।

रचनाधर्मिता के मूल में शक्ति, व्युपत्ति और अभ्यास नामक काव्य हेतु सक्रिय रहते हैं। तीव्र सर्जनात्मक अनुभूति ही इनका आधार पाकर अभिव्यक्त होती है। इस सर्जनात्मक अनुभूति का संवेदना से गहरा रिश्ता होता है। उपर्युक्त आत्मकेन्द्रण और आत्मरति की स्थिति के बावजूद समाज में प्रतिभाशाली या जीनियस व्यक्ति देशकाल की स्थिति से बँधता नहीं है और वह इनकी ज़ंजीरों को तोड़कर अनाहत बाहर निकल आता है। अतः सही रचनाधर्मिता दायरों में नहीं पलती और न ही फलित होती है। वह अपने में अभिन्नतम् व्यक्तिगत अनुभूति को धारणा करते हुए भी समूह के अनुभूति-पुञ्ज को समेटती, समृद्ध करती और गहराती चलती है।

●

शब्द-साधना के स्वर्ण-शिखर : पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव

डॉ. शिवनारायण*

शाम का नीम अँधेरा गहराने को था। भीखना पहाड़ी स्थित एक गली के उस पुराने से मकान में जब मैं पहुँचा, एक महिला संज्ञाबाती दिखाती हुई मुड़ने को थी कि मैंने उनसे पण्डित जी से मिलने की इच्छा प्रकट की थी। उन्होंने इशारे से मुझे अन्दर एक कमरे की ओर जाने की इजाज़त दी थी। अंदर गया तो देखा पण्डित जी एक कोने में पालथी मारे पूजा कर रहे हैं। मैं चुपचाप एक ओर बैठ गया। पण्डित जी की पूजा समाप्त हो गई तो मेरी ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ था। मेरे प्रणाम करने पर स्नेहिल दृष्टि से मुझे आपादमस्तक उन्होंने निहारा, फिर नाम-पता पूछा! यह उनसे मेरी पहली मुलाक़ात थी। पण्डित जी के बारे में जितना जानता था, उनसे कहीं अधिक उनकी आत्मीयता का प्रभाव मुझ पर पड़ा। उनका वह प्रभाव आज तक मुझ पर क़ायम है।

पण्डित जी यानी आचार्य श्रीरंजन सूरिदेव! सभी उन्हें आचार्य कहते हैं। लेकिन, जाने क्यों पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी, पण्डित जानकीवल्लभ शास्त्री आदि की वैदुष्यपूर्ण परम्परा में उन्हें पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव की संज्ञा से पुकारना ही मुझे प्रिय लगता रहा है। आचार्य तो वे हैं ही! सन् 1983 में पटना आने के बाद एक दिन अपने एक मित्र के साथ बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् देखने गया था। तब मैं एम.ए. का छात्र था। परिषद् की ख्याति से वाक़िफ़ था। तब वहाँ के अध्यक्ष सह निदेशक चर्चित कवि पण्डित रामदयाल पाण्डेय हुआ करते थे। वास्तव में उन्हीं से मिलने के आकर्षण में परिषद् गया था। उनसे मिलने के बाद मित्र से ही पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव के बारे में जानकारी मिली थी, कि वे परिषद् में ही अधिकारी हैं और 'परिषद् पत्रिका' के

* डॉ. शिवनारायण : संपादक, 'नई धारा', सूर्यपुरा हाउस, बोरिंग रोड, पटना-800001
आवास : 305-अमन अपार्टमेन्ट, शान्ति निकेतन कॉलोनी, भूतनाथ रोड, पटना-800026, मो. 9334333509

सम्पादक भी। उनके लेखन से मैं पूर्व परिचित था। उस दिन पण्डित जी से भेंट नहीं हो पाई थी। वापसी में जिस मार्ग से घर लौट रहा था, पता चला कि वे उसी रास्ते में पी.के. सिन्हा कॉलोनी में रहते हैं। दूर से ही मित्र ने उनका घर दिखाया था। दो-चार दिनों बाद मैं अकेला उनसे मिलने के लिए उनके घर पहुँच गया था। पहली मुलाक़ात में ही जिस आत्मीयता से उन्होंने मेरा स्वागत करते हुए कोई घण्टे भर तक मुझसे बातचीत करते रहे, उससे मैं बेतरह प्रभावित हुआ था।

बिहार साहित्यिक पत्रकारिता का गढ़ रहा है। इस क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नलिनविलोचन शर्मा, शिवचन्द्र शर्मा, शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' आदि सम्पादकों की जो समृद्ध परम्परा रही है, उसी की अन्तिम कड़ी में पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव आते हैं। इन सम्पादकों का मानना रहा कि साहित्य हो या पत्रकारिता का क्षेत्र, अंततः और तत्वतः वह भाषा की साधना का क्षेत्र है। इसलिए साहित्यकार हों या पत्रकार, वे अपने समय और संवेदना की भाषा में साधना ही करते हैं। अनेक संस्थानों में अपनी सेवा देने के बाद आख़िर में पण्डित जी राष्ट्रभाषा परिषद् की सेवा में आए, जहाँ उन्हें परिषद् की शोध-पत्रिका 'परिषद् पत्रिका' का सम्पादन करना था। अपने 26 वर्षों के सम्पादनकाल में उन्होंने लगभग 1200 संलेखों का सम्पादन कर सम्पादनकला के क्षेत्र में जो कीर्त्तिमान स्थापित किया, वह आज भी अनूठा और प्रेरक है। अपने समय में देश के शीर्षस्थ लेखकों के शोधपत्रों का सम्पादन कर उन्होंने न केवल परिषद् की शाख बढ़ाई, बल्कि शोध पत्रकारिता का भी मानवर्द्धन किया। इस दौरान उन्होंने शोध भाषा का ही मानकीकरण नहीं किया, वरन् साहित्यिक पत्रकारिता को भी संस्कृतिकर्म से जोड़ते हुए साहित्य और समाज को शोध से सम्पृक्त किया। साहित्य के शोधार्थियों को पण्डित सूरिदेव की शोध भाषा, शोधान्मुख साहित्यिक पत्रकारिता आदि पर शोधकार्य करना चाहिए, ताकि इस क्षेत्र में उनके अवदान से देश-समाज को समुचित जानकारी मिल सके।

पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव का मूल नाम था राजकुमार पाठक। उनका जन्म 28 अक्टूबर, सन् 1926 ई. को संताल परगना के देवघर जिलान्तर्गत शुंभेश्वरनाथ धौनी नामक गाँव में हुआ था। उन्होंने संस्कृत, पाली-प्राकृत तथा हिन्दी तीनों विषयों में एम. ए. ही नहीं किया, बल्कि विभिन्न शिक्षा संस्थानों से जैन दर्शनाचार्य, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार आदि उपाधियाँ भी अर्जित कर रखी थीं। 1982 ई. में 'तीसरी-चौथी शताब्दी के महान् प्राकृत कथाकार आचार्य संघदासगणी की कालोत्तीर्ण प्राकृत कथाकृति' पर शोधकार्य कर पी.एच.डी. की उपाधि भी प्राप्त की थी। परिषद् की सेवा में आने के पूर्व वे पटना के पुनपुन उच्च विद्यालय में हेड पण्डित (1949-52) के पद पर कार्यस्थ थे। आचार्य शिवपूजन सहाय पण्डित जी की भाषा-साधना के अनन्य प्रशंसक थे। कहीं उन्होंने उनके बारे में लिखा भी है कि 'श्रीरंजन जी एक मृदुल, मधुर, मनोहर मानस के कवि हैं। संस्कृत, पाली-प्राकृत, हिन्दी आदि साहित्यिक

भाषाओं के मर्मज्ञ भी हैं।' पण्डित जी का लेखनारम्भ कविता से ही हुआ। उनके दो काव्य-संग्रह 'गीत संगम' और 'बहुत है' में शृंगार और प्राकृतिक चितवन की छटा सम्मोहित करती है। रस से भी उन कविताओं में विरह-मिलन की छवियाँ तो हैं ही, जीवन का दर्शन भी है। इनके गीत-ग़ज़लों के बारे में 1955 में ही आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने लिखा था—'श्रीरंजन जी के गीत-ग़ज़ल की लहर से नहीं, अपितु हिन्दी की अपनी गति-धारा से जुड़े हुए हैं। इनके गीतों में व्यथा की अभिव्यंजना हुई है, किन्तु उसमें मृत्यु-जिजीविषा की चिरायंध नहीं है।'

पण्डित सूरिदेव के साहित्य से गुज़रते हुए कभी-कभी लगता है कि अपने लेखन का आरंभ, 'प्राण गा हँस, नाच, कुछ क्षण झूम लेना चाहते हैं/झूमकर मेरे नयन बस चूम लेना चाहते हैं' जैसी रस से भरी पंक्तियों से करने वाला रसज्ञ कवि जाने कैसे ज्ञान और शोध के बीहड़ वन की शुष्कता में खो-सा गया! अपने छात्र जीवन में ही मैंने उनकी कविता-पुस्तक 'बहुत है' पढ़ी थी और उसकी अनेक काव्य-पंक्तियों को अक्सर गुनगुनाया करता था। उनकी यह काव्य-पंक्ति मुझे आज भी याद है, जिसे तब अपने मित्रों को झूम-झूमकर सुनाया करता था—

'उनका प्यार उदार बहुत है!
मुग्ध स्निग्ध-नत नभ नयनों में करुणा का संचार बहुत है
तरल मृदुल-मृदु शबनम के सुकुमार अधर का भार बहुत है।'

कवि श्रीरंजन सूरिदेव की कविताओं को पढ़ते हुए मन में उनको लेकर जो छवि बनी थी, वह प्रेम, प्रकृति और पीर में डूबे एक कवि की छवि थी। इसी छवि को लेकर पहली बार उनसे मिला था और घण्टेभर की बातचीत से उनकी जो छवि लेकर लौटा, तो उसमें उनकी प्राचीन भाषा-साहित्य की पाण्डित्यपूर्ण समझ की मिश्री घुली हुई थी। उनकी खनकदार आवाज़ में किसी विषय पर तार्किकता का प्रवाह उमड़ता तो संदर्भ में जाने कितने प्राचीन ग्रन्थों-कवियों की उक्तियाँ स्वतःस्फूर्त निःसृत होने लगतीं। उनका गद्य भी कविताओं की ही भाँति सरस है।

बिहार में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, मोहनलाल महतो 'वियोगी', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', रामगोपाल शर्मा 'रुद्र' जैसे शास्त्रज्ञ कवियों की परम्परा में श्रीरंजन सूरिदेव की कविताई परवान तो चढ़ रही थी, लेकिन शोध और भारतीय भाषा-संस्कृति की आर्ष-परम्परा के प्रति उनकी रुचि के कारण उनके कवि पर पाण्डित्यपूर्ण सम्पादन-कर्म का दबाव बढ़ता चला गया और अंततः उनका काव्य-विकास अवरुद्ध हो गया। अनेक पत्रिकाओं और नाना ग्रन्थों का उन्होंने सम्पादन किया और इस क्षेत्र में उनका आदर्श सदैव आचार्य शिवपूजन सहाय ही रहे। फलतः विपुल और विविध आयामी लेखन के बावजूद जैसे आचार्य शिवपूजन सहाय 'प्रूफ रीडर' ही समझे जाने को किंचित अभिशप्त रहे; पण्डित सूरिदेव भी उसी श्रेणी में परिगणित किए जाते रहे। पण्डित जी ने विविध विधाओं में तीस से अधिक पुस्तकों की रचना की, जिनमें

'मेघदूतः एक अनुचिन्तन', 'प्राकृत-संस्कृत का समानान्तर अध्ययन', 'वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहतकथा' (आलोचना), 'बिहार के स्मृतिपुरुष', 'अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त पर तीन व्याख्यानों का संग्रह', 'सांस्कृतिक निबन्धकोष', 'आर्हन्तिकी' (जैन धर्म-दर्शन आचार से सम्बद्ध निबन्धों का संग्रह) आदि सहित दर्जनभर बालोपयोगी कथाओं के संग्रह भी महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत-प्राकृत भाषा की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद भी उन्होंने किया, जिनमें 'वासुदेवहिण्डी' (प्राकृत), 'अगडदत्तकहा' (प्राकृत), 'धूर्ताख्यान' (प्राकृत), 'सिंहासन बतीसी' (संस्कृत), 'उपासकदशासूत्र' (सप्तम जैनांग : प्राकृत से हिन्दी-संस्कृत में) आदि प्रमुख कृतियाँ हैं। दर्जनाधिक अभिनन्दन ग्रन्थों का सम्पादन भी किया।

भाषा और संस्कृति के ऐसे महर्ष राष्ट्रीय पुरुष से मेरा सरोकार लगभग 35 वर्षों से भी अधिक का रहा है। 1983 में हुई उनसे पहली मुलाक़ात में ही उनकी आत्मीयता ने मुझे बाँध लिया था, जिससे आज तक मुक्ति नहीं मिली। सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे हनुमान नगर स्थित कालीमन्दिर रोड में बसे स्टेट बैंक कॉलोनी में रहने लगे थे, तब भी अक्सर मैं सुबह की सैर में निकलने के क्रम में उनके यहाँ चला जाया करता। बातचीत में समय कैसे निकल जाता, पता ही नहीं चलता। वेद-वेदान्त से शुरू होकर जैन दर्शन होते हुए संस्कृत-प्राकृत के कवियों-ग्रन्थों की चर्चा के बाद ही वे विराम लेते। तब तक हमारी चाय ख़त्म हो चुकी होती। फिर वे अपने समय की पत्रिकाओं की चर्चा करने लगते। तब तक अन्दर से गृहस्वामिनी की आवाज़ आती—'आपकी पूजा का समय हो चुका है।' ध्वन्यर्थ समझ मैं उनसे विदा लेता। वे द्वार तक छोड़ने आते। ये सिलसिला जब तक वे हनुमान नगर में रहे, तब तक चलता रहा। कुछ वर्षों बाद उनका अपना मकान बाज़ार समिति के निकट बनकर तैयार हो गया, तो वे वहाँ चले गए। अब वही उनका स्थायी पता हो गया है। उनके साथ अनेक बार यात्रा करने का अवसर भी मिला है। यात्रा-मार्ग में शास्त्र चर्चा से सभी को समृद्ध करते रहते हैं। इस मानी में वे सरस क़िस्सागो हैं। उनके चाहने वालों ने यदि उन पर अभिनन्दन ग्रन्थों के सम्पादन का अनावश्यक भार नहीं लादा होता, तो शायद पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह वे भी वेद-वेदान्त के पात्रों-कथाओं के ब्याज से उपन्यासों की रचना कर डालते। सम्पादन अथवा प्रूफ रीडरी को लेकर आचार्य शिवपूजन सहाय और उनकी यति-गति समान दिखती रही है, जिसने उन्हें मौलिक रचने का अवकाश कम-से-कम दिया! दोनों ही इतने सहृदय कि किसी के भी अनुरोध को टाल नहीं सकते! दोनों ने ही जाने कितने ही लेखकों को तैयार किया। इस रूप में उनकी हिन्दी सेवा अतुलनीय है।

पण्डित सूरिदेव बहुपथीन साधना के प्रज्ञसाधक हैं। सृजन, सम्पादन, भाषा-साधना आदि के अलावा साहित्यिक-गतिविधियों में भी उनकी सक्रियता देखते ही बनती है। अनगित साहित्यिक संस्थाओं में उनकी सहभागिता रहती है। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तो वे प्रधानमन्त्री हैं ही। इन संस्थाओं के ब्याज से वे अनेक आयोजनों

में शामिल हो अपने विचारों से साहित्य समाज को लाभ पहुँचाते रहते हैं। मुझे उनके साथ अनेक आयोजनों में मंच साझा करने का अवसर मिला है। अपने अभिभाषणों में वे भाषा, संस्कृति, दर्शन, विचार आदि पक्षों पर खुलकर अपनी बात रखते हैं और ऐसा करते हुए अतीत की अनगिन घटनाओं प्रसंगों के उल्लेख से अपनी भाषा को रोचक बना देते हैं। वे अतीतजीवी नहीं हैं, लेकिन अतीत के रोचक प्रसंगों के उत्खनन से वर्तमान सन्दर्भों को जोड़ अपने व्याख्यान को रसपूर्ण बनाने की कला में दक्ष हैं। उन्हें सुनते हुए मैंने महसूस किया है कि कला-साहित्य हो या दर्शन-चिन्तन का क्षेत्र, किसी भी संस्कृति पुरुष के जीवन से कोई प्रसंग उठाते हैं तो उसकी बारीक़ियों के विश्लेषण में उनके मनोभाव एवं संवेदना के एक-एक रेशे के चारू चित्रण का ध्यान रखते हैं। जैसे कोई कथाकार अपने चरित्र को बुनता है, वैसे ही वे प्रसंगों में लोक संस्कृति पक्ष की बुनावट करते नज़र आते हैं। वे जितना पुस्तक लेखन में भाषा-भाव सम्प्रेषण में सतर्क रहते हैं, उतना ही अपने व्याख्यान में शब्दों के चयन से लेकर अर्थ विस्तार में उसके सटीक प्रयोग तक सन्नद्ध! ऐसा मैंने पटना में उनके पूर्व आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा तथा प्रो. चन्द्रकिशोर पाण्डेय 'निशान्तकेतु' को ही व्याख्यान देने के क्रम में सन्नद्ध-सावधान पाया! एक जादूगर तीन गेंद को उछालते हुए जिस कुशलता से क्रीड़ा करता है, कुछ भाव उसी भाव में ये शब्द-क्रीड़ा करते हैं! भाषा पर ऐसा विलक्षण अधिकार उसकी साधना से ही प्राप्त हो सकता है। पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव इस मानी में भाषा के सर्जन हैं।

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव की भाषा में जो सरस गति है, वही उनके आप्त व्यवहार में है। सरल, सरस व्यक्तित्व के निरभिमान आचार-व्यवहार द्वारा किसी को भी सम्मोहित कर लेते हैं। उनकी एक पुस्तक है 'मेघदूत : एक अनुचिन्तन', जिसकी सरस व्याख्या देखते ही बनती है। कालिदास की इस रचना 'मेघदूत' पर प्रायः सभी विद्वानों ने अपनी-अपनी तरह से लिखा—कहा है। वे कहते हैं : 'मेघदूत' विरह काव्य है। जो कोई उससे गुज़रता है, उसे अपने जीवन के तिक्त प्रेम की पीड़ा के उन्माद में सृजन की एक अनुभूति का अहसास होता है। जिसने प्रेम में त्यागना सीखा, वही 'मेघदूत' का रसपान कर सकता है। डॉ. सूरिदेव की पुस्तक को पढ़ते हुए जाने क्यों इन अहसासों से गुज़रने का आभास मिलता है। 'मेघदूत' के गीति-तत्त्व पर टिप्पणी करते हुए अपनी पुस्तक में एक जगह उन्होंने लिखा भी है— 'मेघदूत के गीतों में, सौन्दर्याकर्षण और प्रणय निवेदन के साथ-साथ अतृप्त आकाँक्षा, वेदना की व्यंजना तथा जीवन के अवसाद-विषाद एवं उसकी रहस्यात्मकता का उन्मेष प्रभावकारी ढंग से हुआ है। मेघदूत के गीतों में, दर्शन की पृष्ठभूमि में जीवन का अन्तदर्शन तथा आनन्दवाद का समर्थन, साथ ही उनमें जीवन के लिए नवीन मार्मिकता का करुण-मधुर सन्देश भी गुंजायमान है। प्रातिभ चमत्कार, जागरूक भावुकता की और बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ अपरिमित शब्द-सौन्दर्य और शब्द संगीत का झंकार है। प्रेम के मधुमय विलास और यौवन के उन्माद-संभार की कलात्मक अभिव्यंजना है। उत्तरमेघ

में अतीत की वेदना-सघन स्मृतियों का मोहक चित्र है; जिसमें अन्तर्दाह है, अवसाद है और है उन्माद की विस्मृतावस्था! कालिदास के मेघदूत के वैशिष्ट्य-दर्शन में जिन शब्द-गुच्छों का प्रयोग किया गया है; यदि सावधानी से उनके अर्थ विन्यास पर ध्यान दिया जाए तो उनके काव्य-संग्रह 'बहुत है' की अनगिन काव्य-पंक्तियों की ओर भी आपका स्वतः ध्यान चला जाता है। जब वे लिखते हैं– 'अलकों की पलकों में उलझा/भींगा सा भिनसार प्रीति का' या 'चाँद चाँदनी के होठों से/लेता लोल लहर का चुम्बन' या फिर 'आती उनकी याद बहुत है/प्राणों में पीड़ा के रस की होती जब बरसात बहुत है' जैसी अनगित भाव-रश्मियाँ!

कालिदास के मेघदूत पर आलोचनाकर्म करते हुए पण्डित सूरिदेव बार-बार प्रेम-पीर से आहत मनोदशा के चित्रण में कोमल कल्पना से प्रभावित होते नज़र आते हैं, जो बताता है कि उनका आलोचक अपने आप्त काम-भाव से आक्रान्त हैं। यह स्वाभाविक भी है। हर कवि अपनी कोमल कल्पना में स्वच्छन्द विचरण करता है। न करता तो जनकवि नागार्जुन 'कालिदास सच सच बतलाना' जैसी पंक्ति लिखकर कालिदास के अन्तर्द्वन्द्व को क्यों ललकारने पर आमदा होते! 'मेघदूत : एक अनुचिन्तन' को पढ़ते हुए कई बार मन में आता है कि काश, 'गीत संगम' और 'बहुत है' की कविताएँ लिखकर पण्डित सूरिदेव अपनी जिन कोमल कल्पना की उड़ान भर रहे थे, उन्होंने विस्तार पाने दिया होता! कौन जाने इस गति प्रवाह में बिहार को अपने प्रदेश में एक और पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के दर्शन हो जाते! पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी विद्वता के बीहड़ वन में चाहे जितने गोते लगाए हों, लेकिन एक से एक सरस उपन्यास, ललित निबन्धादि भी उनके ही क़लम से निःसृत हुए। 'गीत संगम' और 'बहुत है' की रचनाएँ बताती हैं कि संस्कृत, पाली-प्राकृत और हिन्दी भाषा के ज्ञान-गहवर में अहर्निश साधना के द्वारा चाहे पण्डित जी ने अपने वाह्यावरण को जितना सख़्त कर लिया हो, पर अन्दर से कोमल कल्पना में विचरण करने वाले स्वच्छन्द बिहारी ही रहे जो प्रेम और शृंगार की उन्मुक्त उड़ान में ही मुक्तकाम होना चाहते हैं! इस मानी में वे पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी अथवा राहुल सांकृत्यायन के पथ के अनुगामी ही हैं।

अपने बहुपथीन शब्द-साधना के लिए पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव अनेक अलंकरणों, सम्मानों एवं पुरस्कारों से विभूषित भी किए गए, फिर भी उनको जानने वाले जानते हैं कि जो राष्ट्रव्यापी गौरव उन्हें प्राप्त होना था, स्यात् नहीं हो पाया! वे एकान्त साधक थे, हैं और आगे भी रहेंगे! विचारधारा के इस युग में वे दायें चले, न बायें; बस ज्ञान-संधान की पिपासा में मनुष्यता के कल्याण के निमित्त आगे ही आगे बढ़ते रहे! शब्द-साधना के स्वर्ण-शिखर पण्डित श्रीरंजन सूरिदेव का 11 नवम्बर, 2018 की अलस्सुबह 05:15 बजे लोकान्तरण हुआ, जिसके साथ ही शोध, साहित्य और संस्कृति की उनकी पीढ़ी की अक्षर परम्परा का अन्त हो गया।

●

समकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में चार्वाक

रूपेश कुमार सिंह*

उपनिषदों में चर्चा का मुख्य विषय मनुष्य हैं। वास्तव में मनुष्य कौन है? यह क्या शरीर है? या इन्द्रियाँ या चित्त या प्राण या कुछ और; शरीर, इन्द्रियाँ, मन और प्राण मनुष्य नहीं हो सकते। क्योंकि, इनके बिना भी कार्य चल सकता है। उदाहरण के लिए कोई मनुष्य, जब कि उसका शरीर बिस्तर पर आराम कर रहा है और इन्द्रियाँ भी कार्य नहीं कर रही हैं, कुछ अनुभव प्राप्त कर सकता है। मन के कार्य न करने पर भी मनुष्य को अनुभूति हो सकती है। उदाहरणतया गहरी निद्रा में मनुष्य को कुछ-न-कुछ स्वानुभूति होती है। इसी से जब वह निद्रा से जागता है तो कहता है कि उसे निर्विघ्न निद्रा आयी। इसलिए मनुष्य वही है, जिसमें जागृति या अनुभूति है। हम ऐसे मनुष्य की कल्पना ही नहीं कर सकते, जिसमें अनुभूति न हो, क्योंकि अनुभूति की अनुपस्थिति में शरीर को हम मृत मानते हैं। अनुभूति या आत्मा ही वास्तविक जीव है।

इस आत्मा के कारण ही विश्व में कुछ अर्थवत्ता दिखाई देती है। ज्ञाता, आत्मा किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करती है। किसी ज्ञाता की अनुपस्थिति में क्या इस संसार का कोई अर्थ होगा।

चार्वाक दर्शन को नास्तिक शिरोमणि के रूप में लिया जाता रहा है। नास्तिक शिरोमणि को चार्वाक इसलिए भी कहा जाता है कि सम्पूर्ण विश्व में विश्वास के आधार पर किसी-न-किसी रूप से मान्य ईश्वर की अलौकिक सत्ता को सिरे से अस्वीकार कर देता है। उनके कथनानुसार संसार में ईश्वर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। चार्वाक को जो कुछ भी बाहरी इन्द्रियों से दिखाई देता है या अनुभूती होती है उसी सत्ता को स्वीकारता है। चार्वाक के सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण को छोड़कर कोई भी दूसरे प्रमाण को नहीं मानता है। अन्य दर्शनों में जो ईश्वर की कल्पना की गई है, उसका प्रमाण प्रत्यक्ष के द्वारा संभव नहीं है।

* रूपेश कुमार सिंह, (दर्शनशास्त्र विभाग), श्रीअरविन्द महिला कॉलेज, पटना-800 004, बिहार मो. 9334708197

साधारण शब्दों में कहें तो चार्वाक दर्शन जन सामान्य में सबसे लोकप्रिय है। देखा जाए तो जिस दर्शन के शब्द चारू अर्थात् रुचिकर हों, वह चार्वाक दर्शन ही है। शास्त्रीय विषयों का व्यावहारिक और लौकिक पूर्व पक्ष ही चार्वाक दर्शन है। सहज रूप में जो कुछ हम करते हैं, वह सब कुछ चार्वाक दर्शन का आधार है। चार्वाक दर्शन मानव जीवन के सभी पक्षों को सरल-सुलभ निगाह से देखता है। मानव जीवन के प्रति यह सहज दृष्टि ही चार्वाक दर्शन है। निःस्वार्थ भाव से देखें तो संसार के हर मानव जो जीवन यापन करता है, वह चार्वाक दर्शन ही है। ऐसे बोल और सिद्धान्त जो सबको रमणीय लगें। सम्भवतः यही कारण है कि चार्वाक दर्शन लोकायत दर्शन के नाम से भी विद्वानों में प्रसिद्ध है। नाम से तो ऐसा लगता है कि इस दर्शन के प्रणेता बृहस्पति हैं।

चार्वाक दर्शन के प्रणेता के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। बृहस्पति को चार्वाक दर्शन के प्रणेता माना जाता है, लेकिन जब हम गहन अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि अलग-अलग समय में एक नहीं अनेक बृहस्पति हुए। कोई निश्चित रूप से कोई एक बृहस्पति को चार्वाक दर्शन के प्रणेता नहीं मान सकते हैं।

चार्वाक दर्शन ईश्वर और परलोक को नहीं मानता है। परलोक न मानने के कारण ही इस दर्शन को लोकायत भी कहते हैं। सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक के मतानुसार सुख ही मानव जीवन का प्रधान लक्ष्य है। जगत में दुःख भी है। यह सोचकर जो सुख नहीं भोगते हैं, वे सभी मूर्ख हैं। जिसे हम कह सकते हैं कि मछली में काँटे होते हैं, तो क्या हम इससे खाना छोड़ दें। जानवरों के डर से खेत की बुआई छोड़ दें? चार्वाक आत्मा से पृथक कोई पदार्थ नहीं मानते।

चार्वाक के अनुसार चार महाभूतों के अलावा आत्मा नामक कोई अन्य पदार्थ नहीं है। चैतन्य आत्मा का गुण है। आत्मा नामक कोई वस्तु है ही नहीं, अतः चैतन्य शरीर का ही गुण या धर्म सिद्ध होता है। अर्थात् यह मानव शरीर ही आत्मा है। इसकी सिद्धि के तीन प्रकार हैं :

(क) तर्क (ख) अनुभव (ग) आयुर्वेद शास्त्र

ज्ञान मीमांसा के सम्बन्ध में चार्वाक लोग प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। विषय तथा इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने वाला संसार ही प्रमेय है। इसके अलावा अन्य पदार्थ असत् हैं। आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा के द्वारा रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का प्रत्यक्ष आभास हम सबको होता है। चार्वाक लोग आचार मीमांसा से प्रत्यक्ष दृश्यमान देह और जगत् के अलावा किसी अन्य पदार्थ को स्वीकार नहीं करते। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ को वे लोग पुरुष अर्थात् मनुष्य देह के लिए उपयोगी मानते हैं। उनकी दृष्टि में अर्थ और काम ही परम् पुरुषार्थ है। धर्म नाम की कोई वस्तु

मानना बड़ी मुर्खता है। जब इस जगत के अलावा कोई अन्य स्वर्ग आदि है ही नहीं, तो धर्म के फल को स्वर्ग में भोगने की बात अनर्गल (झूठा) है।

चार्वाकों के मोक्ष की कल्पना भी उनके तत्व मीमांसा एवं ज्ञान मीमांसा के प्रभाव से पूर्ण प्रभावित है। जब तक शरीर है, तब तक मनुष्य नाना प्रकार के कष्ट को भोगता है। यही नरक है। इस कष्ट समूह से मुक्ति तब मिलती है, जब देह चैतन्य रहित हो जाती है, अर्थात् मृत्यु हो जाती है। यहाँ मृत्यु (मरना) ही मोक्ष है। क्योंकि मृत शरीर को किसी भी कष्ट का अनुभव नहीं होता है। अन्य दर्शनों में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसी के मुक्त होने की चर्चा की गई है और मोक्ष का स्वरूप भिन्न-भिन्न दर्शनों में अलग-अलग है। चार्वाक उनकी मान्यता को प्रश्रय नहीं देते हैं। वे न तो मोक्ष को नित्य मानते हुए सन्मात्र मानते हैं, न नित्य मानते हुए सत् और चित् स्वरूप मानते हैं, न ही वे सच्चिदानन्द स्वरूप में उसकी स्थिति को ही मोक्ष स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ग़ैरसंजीदगी का परिचय हमारे आधुनिक विद्वान तब देते हैं, जब वे वर्णन करते हैं कि चार्वाकों के आचार-शास्त्र का जिसे 'शुद्ध सुखभोगवाद' नाम देना उन्हें पसन्द है। भौतिकवाद के विरोधियों का भौतिकवादी आचारशास्त्र के प्रति यह सर्वसामान्य रवैया है। लेकिन एक प्रमाण की चर्चा हम करना चाहते हैं। जो महाभारत के 'शान्ति पर्व' से लिया गया है।

जब कुरुक्षेत्र की लड़ाई के बाद पाण्डव विजय समारोहपूर्वक घर वापस लौट रहे थे, तब नगर के प्रवेश-द्वार पर हज़ारों की संख्या मे ब्राह्मण आशीर्वाद देने के लिए जमा हुए। चार्वाक इन ब्राह्मणों में एक था। वह आगे बढ़कर राजा से कहता है कि हे राजन्! ये जो भीड़ है, तुम्हें कोस रही है। तुमने अपने बन्धुओं को मारा, बड़े-बूढ़ों सगे को रक्तरंजित कर तुम्हें क्या मिला। चार्वाक का ये उद्गार अप्रत्याशित था और सब ब्राह्मण सुनकर स्तब्ध रह गए। उन्होंने इस विद्रोही चार्वाक को आग में जला डाला। चार्वाक को छद्मवेशी राक्षस कहना एक प्रचलित दन्तकथा थी, जिसके द्वारा जनता के मन में भौतिकवादी दर्शन का हौवा खड़ा किया जाता है। लेकिन, जिस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, वह यह है कि इस महाभारत-उद्धरण में चार्वाक ने ऐसी कोई भी बात नहीं कही, जिसमें स्वार्थपरायण सुखभोगवाद की गन्ध आती है। कुरुक्षेत्र की लड़ाई में यही सब हुआ भी था।

समाज की नैतिक मान्यताएँ पैरों तले कुचली—दफ़नाई गई थीं। चार्वाक का इसके विरोध में आवाज़ उठाना दो-टूक और साहसपूर्ण था। लेकिन आग में जलना पड़ा और समाज के नैतिक मापदण्ड बदले गए।

कुरुक्षेत्र की लड़ाई के ठीक पहले अर्जुन को भी अपने परिजनों का ख़ून बहाना था, लेकिन वह तैयार नहीं थे। कृष्ण के उपदेश की यह युक्ति दी : हे राजन्! तुम युद्ध में मारे गए तो स्वर्ग अगर जीतोगे तो धरती का राज्य। बात साफ कही गई थी कि

अर्जुन को दोनों अवस्थाओं में सुख मिलने जा रहा है। सचमुच यह एक सुखवादी दर्शन था। कहीं ऐसा तो नहीं था कि जो लोग लोकायतवादियों पर सुखवादी होने काम आरोप लगा रहे थे, वे स्वयं सुखवाद के समर्थक थे, चोरी-छिपे।

इसलिए इस प्रचलित धारणा को न अपनाकर भौतिकवादी दार्शनिक शुद्ध 'सुखभोगवाद' के प्रचारक थे। हमें इस बात की खोज में उतना चाहिए कि भारतीय आचारशास्त्र को उनकी गंभीर देन क्या है? सचमुच अदा की उसे बढ़ा-चढ़ाकर आँकना असम्भव है। महाभारत, रामायण, पुराण तथा दूसरे धार्मिक ग्रन्थों के गाँव-गाँव होने वाले कथा-पाठ आदि जन-प्रचार के साधनों से हमारी जनता के बीच प्रचारित किया गया। यह सिद्धान्त हमारे जन मानस को गहरे रूप से अपने शिकंजे में जकड़ने में सफल हुआ है।

मानव को वर्तमान सुख को अपनाने का उद्देश्य रखना चाहिए। पारलौकिक सुख और आध्यात्मिक सुख को अपनाने के उद्देश्य से इस जीवन के सुख का त्याग करना पागलपन है। ऐसा चार्वाक का मत है। वर्तमान सुख पर चार्वाक अत्याधिक ज़ोर देता है। भूत तो बीत चुका, भविष्य संदिग्ध है। इसलिए यदि निश्चित है, तो वर्तमान ही। मानव का अधिकार, सिर्फ़ वर्तमान तक ही है। कल क्या होगा, यह अनिश्चत है।

अतः चार्वाक के मतानुसार ही वर्तमान परिवेश में मानव जीवन यापन करता है। भोगवादी होते हुए भी अपने को इससे अलग समझता हो। वह अपने सुख के लिए कुछ भी करने को तैयार है, जिससे उसे सुख की प्राप्ति हो सके। चार्वाक-दर्शन के मूल सिद्धान्त का पालन भी करता है। खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ। इतना ही नहीं—

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्।
ऋणं कृत्वां घृतं पिवेत्।।'

जब तक जीएं सुख से जीएं। सुख के उपयोग के लिए ऋण भी लेना पड़े तो पीछे नहीं हटना चाहिए। किसी भी प्रकार से सुख के साधन धन को एकत्र करना चाहिए।

•

दास्योत्तर भारत : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में न्यायिक सक्रियता

प्रणव कुमार*

एक ग़ैर-हिन्दू के संगठन में कार्यरत महिलाओं ने सर्वोच्च न्यायालय से हस्तक्षेप करने का आग्रह किया कि दस वर्ष से पचास वर्ष की महिलाओं पर सबरीमला मन्दिर में प्रवेश पर लगे प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया जाए, क्योंकि यह लिंग-भेद है। दुःख है कि न्यायालय ने हिन्दू धर्माचार्यों से सादर पूछना भी आवश्यक नहीं समझा, और केरल अवस्थित उक्त मन्दिर में महिलाओं के प्रवेश की अनुमति दे दी।[1] केरल पुलिस न्यायिक आदेश के परिपालानार्थ वहाँ हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार कर रही है। एक और घटना हिन्दुओं की दयनीय स्थिति को उजागर कर रही है—ब्राह्मण कुलोत्पन्न 'अनार्य' रावण के वधोपरान्त मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के अयोध्या लौटने के परिप्रेक्ष्य में सोल्लास मनाए जाने वाले दीपावली उत्सव के चार चाँद लग जाता, यदि सर्वोच्च न्यायालय जन्मस्थान पर भव्य मन्दिर के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर देता। वस्तुतः इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने Archaeological Survey of India द्वारा किए गए उत्खनन के आधार पर न्याय-निर्णय कर दिया था। वहाँ विदेशी आक्रान्ता बाबर निर्मित विवादित मस्जिद के नीचे हिन्दू-धर्म-परम्परा से सम्बन्धित पुरावशेष मिले थे। कोदण्डपाणि मुद्रा में श्रीराम की संगमरमर की मूर्ति भी विवादित स्थल से मिली थी। यही नहीं नागरी लिपि में संस्कृत में लिखित प्रस्तर पर पुरालेख भी वहाँ से मिला है।[2] बस सम्पूर्ण विवादित भूमि पर हिन्दुओं के स्वामित्व से सम्बन्धित वाद सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख था। दुःखद है कि न्यायालय ने इस्लामी मान्यताओं के अनुपालनार्थ हिन्दुओं पर किए गए घावों पर मरहम लगाने के स्थान पर यह आदेश दिया कि उसकी प्राथमिकताएँ भिन्न हैं, कि उक्त वाद की अगली सुनवाई जनवरी, फरवरी, मार्च 2019 ई. में हो सकती है। ध्यातव्य है कि शताब्दियों से हिन्दू श्रीराम जन्मभूमि के उद्धार के

* प्रणव कुमार : आफिसर्स कॉलानी, कटिहार, बिहार मो. 9430582369

लिए संघर्ष कर रहे हैं; दशकों से यह वाद न्यायालयों में लम्बित है, तब ऐसी न्यायिक टिप्पणी!

न्यायिक अहंकार के दृष्टान्त मिलते हैं। ब्रिटिश न्यायाधीश विलियम जोन्स, जिसे Indology भारत विद्या का जनक माना जाता है, यह कहने का दुस्साहस करने लगा था कि बनारस के महान् पण्डितों से भी अधिक वह हिन्दू शास्त्रों को जानता था। इस्लाम या ईसाई मजहबी विश्वासों के अनुसार मस्जिद या चर्च केवल प्रार्थना-स्थल हैं; वहाँ उनके ईश्वर नहीं रहा करते। उनके ईश्वर सृष्टि से सर्वथा पृथक् अस्तित्व रखते हैं। जबकि हिन्दू मन्दिर हिन्दुओं के लिए प्रार्थना-स्थल मात्र नहीं हैं, वे हिन्दू ईश्वर का निवास स्थान भी हैं। वे वहाँ भोजन ग्रहण करते हैं, विश्राम करते हैं, अपने भक्तों के कष्टों का निवारण करते हैं। मन्दिरों में हिन्दू देवताओं की जीवन्त उपस्थिति होती है, वहाँ ईश्वर प्रतीक (Symbol) रूप में नहीं होते।

शिक्षा, रक्षा, संस्कृति, सेवा और अध्यात्म के केन्द्र रहे हिन्दू मन्दिरों में कोलाहल एवं भीड़-भाड़ के प्रश्न को आर्थर कोश्लर (Arthur Koestler) ने कांची कामकोटि पीठ के शंकराचार्य परमाचार्य के समक्ष सन् 1959 ई. में उठाया था। तब श्रद्धेय परमाचार्य ने निवारण किया था कि मन्दिर एकान्तिक साधना के केन्द्र नहीं थे, न ही ध्यान लगाने के स्थल के रूप में उनका उपयोग होता था। भोजन, संतति, भवन, वस्त्राभूषण ईश्वर का अनुग्रह हैं।

हिन्दू मन्दिरों में कृतज्ञता ज्ञापन हेतु फूल, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्र, संगीत, ज्योति भोज्य पदार्थ, आभूषण आदि समर्पित करके स्वयं को धन्य मानता है। इसी क्रम में केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (CBSE) के लिए NCERT द्वारा प्रकाशित कक्षा नवम् की अंग्रेजी पाठ्यपुस्तक, जो पूर्व प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह के समय से चली आ रही है, में विक्रम सेठ विरचित नेपाल यात्रा-वृत्तान्त की ओर ध्यान आकृष्ट करना समीचीन होगा। वह नेपाल में काठमाण्डु अवस्थित पशुपतिनाथ मन्दिर गया उसे वहाँ 'पूर्ण अव्यवस्था' दिखा उसने ठेलमठेल, भीड़-भाड़, गन्दगी, कोलाहल देखा; शिवलिंग पर बन्दर को उछलते देखा। फिर वह एक बौद्ध-स्तूप देखने गया, वहाँ उसे 'अपूर्व शान्ति' मिली। स्पष्ट है कि हिन्दू बच्चों के मस्तिष्क में हिन्दू प्रतीकों, मान बिन्दुओं के प्रति वितृष्णा-घृणा का भाव यह आलेख पैदा करेगा, ऐसी अपेक्षा के साथ इसे पाठ्यक्रम में लिया गया है। क्या ऐसे तीर्थयात्रा वृत्तान्त को यूरोप या अरब या बौद्ध राष्ट्रों में छोटे बच्चों को पढ़ाया जा सकता है? उच्च शिक्षा की स्थिति भी अच्छी नहीं रही है।

एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय में कांचा इलैया की पुस्तक 'why Iam not a hindu' पाठ्यक्रम में शामिल थी, जबकि 'why Iam not a muslim' अथवा 'why Iam not a christian' नामक पुस्तकें पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं थीं। माननीय मोदी धन्यवाद के पात्र हैं कि उपरोक्त धृष्टता को समाप्त कर दिया गया। उच्च शिक्षण संस्थानों पर कब्ज़ा जमाए वामपंथी बुद्धिजीवी मार्क्स के मतानुसार यह मानते हैं कि

सामाजिक विकास में सामन्तवाद (feudalism) एक निश्चित सोपान है। अतः यूरोप की भाँति भारत में भी सामन्ती युग (Feudal age) अवश्य रहा होगा! वास्तविकता इसके उलट रही है। प्राचीन भारत में कृषक जातियाँ भू-स्वामी रही हैं सदा से। अंग्रेजों ने भूमि पर कृषक जातियों के पारम्परिक, पिता से पुत्र को हस्तान्तरित पूर्ण अधिकार को समाप्त किया था। भारतीय कृषक Tenant cultivator कभी नहीं रहे; वे भूस्वामी थे। यही स्थिति विविध शिल्पियों की थी वे अपने यन्त्रों के स्वामी थे। अतः भारतीय स्वतन्त्र नागरिक थे। इंग्लैण्ड में स्थिति सर्वथा भिन्न थी, वहाँ की लगभग 98% जनसंख्या दास या अर्द्ध-दास (Serf) थी। अपने देश में प्राप्त अवस्था के अनुरूप ही भारत में अंग्रेजों ने जमीदारों का सृजन किया था। भारत में सामुदायिक खेती के साक्ष्य भी मिलते हैं। प्रख्यात गाँधीवादी इतिहासकार धर्मपाल के अनुसार, सन् 1805 ई. के आसपास तमिलनाडु के तंजौर मण्डल में 1800 'समुदायम' गाँव थे, जो तंजौर के 30% गाँव थे। उड़ीसा के पुरी के निकट 52 'शासन' ग्राम थे। इस अद्भुत व्यवस्था को सन् 1937 ई. की 'कृषक को भूमि' नामक राष्ट्रीय नीति के अनुपालनार्थ समाप्त कर दिया गया।

गोधरा, गुजरात में हिन्दू बच्चों, महिलाओं और वृद्धों को रेल गाड़ी के डिब्बे को बाहर से बन्द कर जिन्दा जला देने वाले कांग्रेसी जिहादियों को मृत्युदण्ड के स्थान पर आजीवन कारावास की सजा दी गई। दुःखद है। उधर असम में 'राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर' (NRC) से 40 लाख अवैध बांग्लादेशी घुसपैठियों को निकाल बाहर कर दिया गया है। वहाँ भी प्रशासनिक कार्य में न्यायालय हस्तक्षेप कर रहे हैं। ध्यातव्य है कि माधव गोडबोले रिपोर्ट (2000 ई.) में तीन लाख बांग्लादेशी घुसपैठियों के प्रतिवर्ष भारत में अवैध प्रवेश की बात कही गई थी; तब तक 1.5 करोड़ अवैध घुसपैठिए भारत में प्रवेश कर चुके थे। सन् 1991 ई. की बांग्लादेशी जनगणना के अनुसार लगभग 1 करोड़ लोग वहाँ से ग़ायब हैं। अवकाश प्राप्त सेनाध्यक्ष शंकर रायचौधरी के अनुसार अवैध बांग्लादेशी घुसपैठ के कारण भारत की राजनीतिक सीमा के भीतर 10 से 20 किलोमीटर तक विदेशी बस चुके हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इग्लैण्ड में बहुत वाद-विवाद हुआ कि अमेरिका की भाँति भारत में भी अंग्रेजी उपनिवेश स्थापित किया जाए। भारत की जनसंख्या एवम् जलवायु के कारण इस कुत्सित विचार को त्याग दिया गया। अगर जलवायु अनुकूल होती और हमारी जनसंख्या कम होती, तो हमारा हश्र भी उन मूल अमेरिकियों की तरह होता; हमें नष्ट करने के विविध प्रकल्प अंग्रेज यहाँ चला रहे होते। यह उनके धर्मग्रन्थ में भी स्वीकृत है—फादर कामिल बुल्के द्वारा अनूदित 'न्यू टेस्टामेन्ट' में उल्लेख है कि ईसाई देवता यावे ने, जिसे वे एकमात्र सच्चा ईश्वर मानते हैं, कनान देश में ''सात राष्ट्रों को नष्ट किया और उनकी भूमि हमारे पूर्वजों के अधिकार में दे दी।'' (पृ.सं. 329)। कनानियों, हित्तियों, जेबुसियों, पेरिजियों, अमोरियों

आदि को नष्ट कर 'चयनित जनों' को 'वाग्दत्त भूमि' (Promised Land) में यावे नामक ईसाइयों के 'ईर्ष्यालु देवता' ने बसा दिया। क्या आश्चर्य कि अमेरिका के मूल निवासी मार डाले गए Lebensraum हेतु।[4] जबकि हिन्दू प्रभृत पैगन/क़ाफिर परम्परा में दूसरों को नष्टकर अपने 'चयनित जनों' के लिए 'वासयोग्य भूमि'—Lebensraum जैसा हिटलर भी चाहता था, उपलब्ध कराने के संकेत किसी देवता या अवतार में नहीं दिखता। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने बालि या रावण को मारकर उसका राज्य हस्तगत नहीं किया था।

भारत का राष्ट्रीय समाज जब समान नागरिक संहिता (Uniform civil code) की माँग कर रहा है; बहुत ही सहज भंगिमा में समानान्तर इस्लामी न्यायिक व्यवस्था लागू हो ऐसी चेष्ट की जा रही है, जो चिन्तनीय है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस्लामी न्यायिक व्यवस्था में अपने पूर्वजों पर आरोपित अपात्रताओं (disabilities) का उल्लेख सामयिक होगा। हमारे पूर्वजों से घृणित जजिया नामक कर (Tax) लिया जाता था। मीर सैयद अली हमदानी ने न केवल हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा था, उसने 37,000 हिन्दुओं का बलात् धर्मान्तरण भी किया था। हमदानी ने 'जिम्मियों के प्रति उमर की प्रसंविदा' के आलोक में हिन्दुओं पर लागू की जाने योग्य 20 अपात्रताओं का उल्लेख किया है :

1. हिन्दू नए मन्दिर नहीं बनाएँगे।
2. पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार हिन्दू नहीं करेंगे।
3. मुस्लिम यात्रियों को मन्दिरों में ठहरने से रोका नहीं जा सकता है।
4. मुसलमानों का यह अधिकार होगा कि वे तीन दिनों तक हिन्दू घरों में रुककर सेवा-सत्कार प्राप्त करें।
5. जिम्मी (हिन्दू) गुप्तचरी नहीं करेंगे, न ही गुप्तचरों को आश्रय देंगे।
6. इस्लाम की ओर अभिमुख किसी व्यक्ति के धर्मान्तरण का वे विरोध नहीं करेंगे।
7. मुसलमानों का वे सम्मान करेंगे।
8. अपनी सामुदायिक चर्चा में सम्मिलित होने के इच्छुक किसी मुस्लिम को वे सादर आमन्त्रित करेंगे।
9. मुसलमानों के समान वस्त्र हिन्दू धारण नहीं करेंगे।
10. वे मुस्लिम नाम नहीं रखेंगे।
11. वे घोड़े की सवारी नहीं करेंगे।
12. हिन्दू तलवार, धनुष-बाण नहीं रखेंगे।
13. वे मुद्रिका, अँगूठी धारण नहीं करेंगे।
14. वे शराब न बेचेंगे, न पीएँगे।
15. हिन्दू अपनी पारम्परिक वेश-भूषा का त्याग नहीं करेंगे।

16. मुसलमानों के बीच अपनी परम्पराओं का अनुपालन खुलकर नहीं करेंगे।
17. मुसलमानों के घरों के निकट वे अपने घर नहीं बनाएँगे।
18. मुस्लिम कब्रिस्तान के निकट वे अपने मृतकों का अन्तिम संस्कार नहीं करेंगे।
19. परिजनों की मृत्यु की दशा में हिन्दू ज़ोर-ज़ोर से रोएँगे नहीं।
20. मुसलमानों को दास के रूप में वे खरीद नहीं सकते।

मुस्लिम सुल्तान या बादशाह यथाशक्ति इन अपात्रताओं को लागू करते रहते थे। नरपिशाच टीपू सुल्तान ने हिन्दुओं को दो विकल्प दिया था—तलवार या टोपी। कुर्ग में टीपू ने 10,000 हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया था। टीपू ने कोझीकोड में नम्बूदरी हिन्दुओं पर अकथनीय अत्याचार किया था। हिन्दू राजा से बलात् हस्तगत किए गए अपने राज्य के विविध स्थानों के हिन्दू नाम को भी वह सहन नहीं कर सका; मंगलोर जलालाबाद बनाया गया, रत्नगिरि मुस्तफाबाद बना, डिंडिगुल खालिकाबाद तो कलिकट इस्लामाबाद बनाया गया। इतिहासकार के.एस. लाल के अनुसार सन् 1000 ई. से 1525 ई. तक इस्लामी साम्राज्यवादी प्रकल्प के कारण 10 करोड़ हिन्दू अप्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त हुए। परन्तु मार्क्सवादी इतिहासकार जो अब 'लिबरल' कहलाना पसन्द करते हैं; टीपू एवं औरंगजेब प्रभृत जिहादियों को आधुनिक पेश करने में शक्ति लगा रहे हैं। गत वर्ष (सन् 2017 ई.) 'लिबरल' कलाकार शबाना आजमी ने ट्विटर पर दुर्गा-पूजा की शुभकामना दी थी— 'हम प्रार्थना करें कि कोई दुर्गा गर्भपात कराने के लिए बाध्य न हो, कोई सरस्वती विद्यालय जाने से रोकी न जाए, कोई लक्ष्मी अपने पति पर पैसे के लिए आश्रित न हो, और किसी काली को फेयरनेस क्रीम की आवश्यकता न पड़े।' यह शुभकामना नहीं, खुल्मखुल्ला व्यंग्य था। हिन्दू देवियों पर कुत्सित आक्षेप! कुछ ऐसा ही गर्हित कार्य 'कलाकार' हुसैन कर रहा था। वह केवल हिन्दू देवियों के नग्न चित्र बनाता था, जबकि इस्लाम प्रवर्तक मुहम्मद की पुत्री का चित्रांकन वस्त्र पहने किया था उसने।[5]

वामपंथी बुद्धिजीवियों को वैचारिक नेतृत्व सौंप चुकी कांग्रेस ने हिन्दुओं से पृथक् अल्पसंख्यक समुदाय का दर्जा जैनों को दे दिया। वे रुके नहीं। सन् 2018 ई. में शिवपूजक लिंगायतों को हिन्दू राष्ट्र से पृथक् अल्पसंख्यक समुदाय बनाने की कुचेष्टा उक्त राजनीतिक दल ने की। प्रतीत होता है कि न्यायपालिका भी वापमंथी विचारधारा से ग्रस्त हो चुकी है। तमिलनाडु के एक पर्यटक की मृत्यु हो गई कश्मीरी पत्थरबाज़ों के कारण। कश्मीर में पत्थरबाज़ी के कारण सहस्रों सुरक्षा बल के जवान हताहत हुए। राज्य प्रशासन ने पत्थर फेंकने वाले 'भटके हुए युवाओं' के विरुद्ध कोई 9000 मामले वापस ले लिए। सर्वोच्च न्यायालय ने सार्थक हस्तक्षेप करने के स्थान पर सैन्य बलों पर कई अपात्रताएँ व बन्धन डाल दिए, यथा उन्हें पैलेटगन के प्रयोग की सशर्त अनुमति दी गई। फिर क्यों गो-माँस से जुड़े अखलाक की हलारी भीड़ के लिए

अलग प्रावधान! स्पष्ट है कि भारत में न्यायिक समानता का सिद्धान्त अक्षरशः लागू नहीं होता। यहाँ अधिकार विहीन हिन्दू 'बहुसंख्यक' रहते हैं, साथ हैं विशेषाधिकार युक्त 'अल्पसंख्यक'। कठुआ, जम्मू में हिन्दू पावनता पर जिहादी प्रहार चिन्तनीय है।

कठुआ में एक आठ वर्षीया मुस्लिम बच्ची से बलात्कार हुआ। कश्मीर पुलिस की क्राइम ब्रान्च ने 'अनुसन्धान' कर पाया कि उक्त बच्ची के साथ एक 'देवीस्थान' में 'हिन्दुओं' द्वारा अनाचार किया गया (कुछ ऐसा आरोप वाराणसी के विश्वनाथ मन्दिर को औरंगजेब द्वारा तोड़ने के लिए प्रयुक्त किया गया था)! प्रतिक्रिया में कई-कई हिन्दू आगे आ गए कि 'वे लज्जित हैं कि वे हिन्दू हैं।' अखलाक-प्रकरण दोहराया जा रहा था। परन्तु क्या किसी अपराधी के गर्हित कार्य के लिए सम्पूर्ण समाज में आत्मग्लानि या हीन-भाव आरोपित करना उचित था! क्या हिन्दू धर्म-परम्परा में, हिन्दू धर्मग्रन्थों में अपनी या परायी स्त्रियों के साथ अनाचार को प्रेरणा देता एक भी उल्लेख है? नहीं। क्या यहीं बात ग़ैर-मुस्लिम महिलाओं के सन्दर्भ में इस्लामी मजहबी पुस्तकों के विषय में कहीं जा सकती है?[6] ZEE NEWS ने उत्तर प्रदेश के दो बैंकों के ATM के CCTV केमरे के सक्ष्य के आधार पर कश्मीर पुलिस की हिन्दू-द्रोही छवि को उजागर कर दिया था– आरोपी अपराध स्थल से सैकड़ों मील दूर एक दूसरे राज्य में तत्समय था! दुःखद है कि तब तक अन्तर्राष्ट्रीय मीडिया एवं संयुक्त राष्ट्र में भारत और विशेषकर हिन्दुओं की छवि धूमिल की जा चुकी थी। स्पष्ट है कि अब जम्मू के हिन्दुओं को पयालन करने के लिए बाध्य करने की सुचिन्तित नीति कार्यान्वित की जा रही है। दुःखद है कि कांग्रेस एवं स्थानीय राजनीतिक पार्टियों की अदूरदर्शी नीतियों के कारण दास्योत्तर युग में कश्मीर से लाखों हिन्दू पलायन करने के लिए बाध्य हुए थे। तब न्यायालय उनके अस्तित्व-आस्था-अस्मिता की रक्षा के लिए आगे नहीं आए थे। दुःखदायी है कि कश्मीरी हिन्दू नरसंहार पर सर्वोच्च न्यायालय ने हस्तक्षेप करना अस्वीकार कर दिया। परन्तु न्यायिक सक्रियता का एक उदाहरण समीचीन है। बात सन् 1975 ई. की है। प्रधानमन्त्री गाँधी इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा भ्रष्ट चुनावी आचरण की दोषी सिद्ध हो चुकी थीं। वे सर्वोच्च न्यायालय पहुँचीं। न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर ने कहा कि केन्द्र सरकार तत्समय प्रभावी विधि में सुधार कर ले तो सर्वोच्च न्यायालय परिवर्तित विधियों के अनुसार उनके वाद की सुनवायी करेगा। कानून में यथोचित बदलाव किया गया, वे चारों भ्रष्ट व्यवहार जिनके लिए प्रधानमन्त्री दोष-सिद्ध हुई थीं, अब नए क़ानून के अनुसार भ्रष्ट आचरण नहीं रहे, भूतकाल में भी वे भ्रष्ट आचरण नहीं माने जाएँगे! परन्तु यह नैसर्गिक न्याय की अवधारणा के विरुद्ध था।

दीपावली, कृष्णाष्टमी, जल्लीकट्टू, मूर्ति विसर्जन पर न्यायिक हस्तक्षेप अब सामान्य बात है। संसार में सर्वत्र लोक-विश्वास अनुल्लंघनीय माने जाते हैं। क्या ईसा मसीह के immaculate conception पर, ईसा के 'एकमात्र ईश्वर-पुत्र' होने पर,

मुहम्मद के पैगंबर होने पर प्रश्नचिह्न लगाया जाता है? भारत में भी न्यायालय बकरीद के अवसर पर अतिशय मात्रा में हो रहे पशु-वध पर अहस्तक्षेप की मुद्रा अपना लेते हैं; जबकि हिन्दू परम्पराएँ मानो अन्धश्रद्धा हों, कालबाह्य हों। जिहादी आतंकवाद, नक्सलवाद एवं भ्रष्टाचार के विरुद्ध रामबाण नोटबन्दी के परिप्रेक्ष्य में भी प्रतिकूल न्यायिक टिप्पणियाँ याद आती हैं।[7] 'नेदं पितः सम्यगिवोपवर्तते'–पिताजी, आप ठीक-ठीक नहीं पढ़ा रहे। यह कहा था उस विकलांग, विकृत परन्तु तेजस्वी, सत्यचेता एवं ब्रह्मवेत्ता अष्टावक्र ने अपने पिता कहोड़ मुनि से। स्पष्ट है कि भारतीय मनीषा ने सत्य की प्रतिष्ठा की थी, असत्य उन्हें अप्रिय था। परन्तु क्या आज के न्यायालयों के विषय में ऐसा कहा जा सकता है?

विश्व के सबसे बड़े प्रशासनिक तन्त्र (bureaucracy), ईसाई मज़हब के अधिकारी बिशप फ्रेंको मुलक्कल, जिस पर एक नन ने बलात्कार का आरोप लगाया था, उसे जमानत मिल गई। न्यायालय अन्तर्यामी हैं, उन्हें पता है कि उक्त पादरी साक्ष्यों से छेड़छाड़ नहीं करेगा। उधर ग़रीब-दलित-पिछड़े हिन्दुओं के अभ्युदय के लिए सतत् प्रयासरत हिन्दू धर्मगुरु आसाराम को कभी 'बेल' मिली थी? नहीं। दक्षिण भारत के कई हिन्दू धर्मगुरुओं, यथा श्री श्री रविशंकर, सद्गुरु जग्गी वासुदेव, शंकराचार्य स्व. जयेन्द्र सरस्वती एवं स्वामी नित्यानन्द पर न्यायालयों-न्यायाभिकरणों की सहायता से कई-कई अपात्रताएँ लादी गईं। उन्हें प्रताड़ित किया गया, न्यायिक प्रक्रियाओं की सहायता लेकर। जब हेमन्त करकरे के नेतृत्व में महाराष्ट्र पुलिस की आतंकवाद रोधी शाखा साध्वी प्रज्ञा पर अमानवीय अत्याचार कर रही थी, न्यायालय मौन थे। परन्तु देशद्रोहियों के लिए न्यायालय के कपाट आधी रात्रि को भी खुल जाते हैं। हिन्दू द्रोही मार्क्सवादियों अथवा लिबरलों से प्रभावित होकर न्यायालय हिन्दू परम्पराओं एवं उत्सवों में खलल डाल रहे हैं पर्यावरण संरक्षण आदि विविध बहानों की आड़ लेकर। जब हिन्दू द्रोही अधिक शक्तिशाली थे, वे सीधी कार्यवाही करते थे। सन् 1665 ई. में नरपिशाच औरंगजेब ने रंगों के महापर्व होली पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उसी वर्ष उस दुष्ट ने दीपोत्सव पर भी रोक लगा दी थी। हम क़ाफ़िरों पर तीर्थयात्रा कर भी उसने लगाया था। सन् 1669 ई. में यमुना तट पर हमारे पूर्वज मृतकों को जलाने से रोक दिया गया। अहमदाबाद, गुजरात के साबरमती तट पर हमारे पूर्वजों को अंत्येष्टि संस्कार करने से रोक दिया गया सन् 1703 ई. में। औरंगजेब ने अप्रैल, 1679 ई. में हमारे पूर्वजों पर जजिया लगाया, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं देना था। खफी खान लिखता है कि जब हज़ारों हिन्दू घृणित जजिया का विरोध करने के लिए एकत्रित हुए, उन्हें हाथी से कुचलवाकर मार डाला गया।

हमारे प्रातः स्मरणीय पूर्वजों ने चाँद-तारे वालों के सिपाहियों को पराजित किया, फिर अनन्त दुःख उठाकर क्रॉस की बलवती शक्तियों को भी हराया। पेशवा बाजीराव प्रथम का लक्ष्य–'कटक से अटक तक स्वराज्य की स्थापना'–हम न कर पाए। परन्तु

दास्योत्तर भारत में भी हिन्दू अपरिभाषित बहुसंख्यक द्वितीय श्रेणी के नागरिक बना दिए गए हैं। प्रथमतः केवल 'नागरिक' के रूप में हिन्दू न्यायालय जा सकते हैं, जबकि अल्पसंख्यक समुदाय के लोग 'नागरिक' एवं 'अल्पसंख्यक' दोनों आधारों पर न्यायालय की शरण ले सकते हैं। द्वितीय, अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थानों को संवैधानिक संरक्षा प्राप्त है, जो बहुसंख्यक शिक्षण-संस्थानों को नहीं है।

हाँ, अब एक अन्तर दिख रहा है। सन् 1985 ई. के बाद भारत में शक्तिशाली एवं निर्णायक भूमिका निर्वहन में सक्षम राजनीतिज्ञ के उदय को हम देख रहे हैं। जब अक्षम, अदूरदर्शी राजनीतिक वर्ग सत्ता पर क़ाबिज था, वेतनभोगी अधिकारी न्यायाधीश सुधार के नाम पर, कार्यकुशलता के नाम पर अधिकाधिक स्वायत्तता प्राप्त करते रहे। संवैधानिक प्रावधानों के विपरीत न्यायाधीशों ने अपनी नियुक्ति का अधिकार स्वयं ले लिया। गत पचास वर्षों में कृषकों की आय लगभग 19 गुणा बढ़ी, उसी कालखण्ड में न्यायिक-प्रशासनिक-शैक्षणिक क्षेत्र में कार्यरत सरकारी कर्मचारियों-पदाधिकारियों-न्यायाधीशों की आय में 150 गुणा, 200 गुणा, 250 गुणा 320 गुणा तक की बढ़ोतरी हुई। क्या आश्चर्य कि कृषक आत्महत्या कर रहे हैं। वेतन सहित अवकाश की सुविधा सुनिश्चित करने के बाद अब इन्हें स्वायत्तता चाहिए। पुलिस सुधार के नाम पर पुलिस को भी स्वायत्तता चाहिए। प्रकाश सिंह (अवकाश प्राप्त DGP, UP; DGP, Assam; DG, BSF) उच्चतम न्यायालय गए कि पुलिस सुधार हो। न्यायालय ने कार्यपालिका-विधायिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप कर 'सुधार' के नाम पर National security commission एवमं state security commission आदि कई-कई आयोगों के गठन का आदेश दे दिया, जहाँ सेवानिवृत्त न्यायाधीशों के नियोजन की व्यवस्था है। राजनीतिक नियन्त्रण से पुलिस को मुक्त करना इसे सुधार कहा जाता है। परन्तु पुलिस तो राजनीतिज्ञों के नियन्त्रण में ही रहनी चाहिए। राजनीतिज्ञ प्रत्येक 5 वर्ष में जनता से समर्थन लेते हैं। अगर पुलिस भी 'स्वायत्त' हो जाए, तो फिर 'हम भारत के लोग' कहाँ आश्रय लेंगे? क्योंकि न्यायालय में 2.5 करोड़ वाद वर्षों से लम्बित हैं। स्पष्ट है कि सन् 1990 के दशक में न्यायिक सक्रियता ने सत्ता के शीर्ष पर उपजे ख़ालीपन को भरा था, परन्तु अब स्थिति परिवर्तित है। संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत शीर्ष न्यायापालिका केवल क़ानून की व्याख्याकार की भूमिका निभा सकती है। क़ानून बनाने का अधिकार केवल विधायिका– संसद एवं विधानसभा में अन्तर्निहित है। भारत की जनता 'अनिर्वाचितों की तानाशाही' (Dictatorship of unelected) स्वीकार नहीं करेगी। जब सामान्य यूरोपीय ईसाई बाइबिल पढ़कर उसकी शिक्षाओं का अतिक्रमण कर गए (पहले सामान्य ईसाइयों को बाइबिल पढ़ने का अधिकार नहीं था), उसी प्रकार एक दिन जब सामान्य भारतीय स्वयं संविधान को पढ़ लेंगे, तब जो अधिकार न्यायपालिका ने बलात् हस्तगत कर रखा है, उसे 'परेशान' लोग छीन लेंगे।

1. भारत की भोली-भाली हिन्दू जनता ने अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से संविधान 'आत्मार्पित' किया था अपने अस्तित्व एवं परम्पराओं के संरक्षण के लिए, न कि न्यायिक अहंकार के तुष्टिकरण हेतु। लोकमंगल हेतु निर्मित सामान्य मन्दिरों में, अधिसंख्य मन्दिरों में श्रद्धालुओं के प्रवेश पर कोई रोक नहीं है। परन्तु कुछ मन्दिर हैं जहाँ पुरुषों का प्रवेश वर्जित है; कुछ मन्दिर हैं जहाँ श्रद्धालु सपत्नीक प्रवेश कर सकते हैं; कुछ ऐसे मन्दिर भी हैं जहाँ स्त्रियाँ न जाएँ तो अच्छा है। क्यों एकेश्वरवाद से प्रभावित होकर एकल पूजा-पद्धति हम हिन्दुओं पर थोपी जा रही है? जबकि पश्चिम में विद्वत मण्डली भारतीय धर्मपरम्परा पर अनुचित प्रहार कर रही है, यहाँ न्यायालय भी हिन्दू परम्परा पर कुठाराघात कर रहे हैं।

2. उक्त पुरालेख में लिखा है कि 'विष्णु हरि' जो रावण का वध करने वाले हैं, उनके सम्मान में 'साकेत' मण्डल में भव्य मन्दिर का निर्माण किया गया था। अयोध्या अवस्थित विवादास्पद संरचना को ढहाकर रामलला विराजमान के लिए भव्य मन्दिर के निर्माण के विषय में अंग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ लेखकों में परिगणित, नोबेल पुरस्कार विजेता वी.एस. नायपॉल ने कहा था कि यह भारत के राष्ट्रीय समाज-हिन्दुओं में ऐतिहासिक जागरण का प्रतीक है।

3. ज़मींनदारी प्रथा में उन्मूलन के नाम पर दास्योत्तर भारत में भी कृषिजीवी जातियों पर अकथनीय अत्याचार किए गए। कृषक जातियाँ 20-25 एकड़ से अधिक भूमि प्रति व्यक्ति नहीं रख सकती हैं, जबकि कम्पनी बनाकर सहस्रों एकड़ भूमि पर नियन्त्रण-स्वामित्व रखा जा सकता है। दशकों तक वे डर-डर कर जीते रहे कि कहीं 'स्वतन्त्र भारत' की सरकार उनकी ज़मीन हस्तगत न कर ले।

भारत में शैक्षणिक जगत् में वामपंथी 'विचारकों' के वर्चस्व के कारण हम मान लेते हैं कि हिन्दू समाज पतनोन्मुख था, 'दलित' शिक्षा से वंचित थे, भयंकर रूप से गरीब थे। विश्वविख्यात आर्थिक इतिहासकार एंगस मैडिसन ने शोध कर यह निष्कर्ष दिया कि प्रथम शताब्दी ई. से आगामी सतरह शताब्दियों तक भारत विश्व का प्रथम आर्थिक महाशक्ति था। सन् 1810 ई. के आसपास दक्षिण भारत के सभी जिलों में 10,000 से 20,000 करघे थे, वस्त्र बनाने हेतु। वस्तुतः भारत के 400 जिलों में उत्तम वस्त्र का निर्माण होता था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों तक भारत में लगभग 10,000 लोहा तथा स्टील उत्पादन इकाइयाँ (furnaces) थीं। प्रत्येक वर्ष हर भट्ठी 20 टन लोहा एवं स्टील बनाती थी। उच्च गुणवत्ता के भारतीय स्टील से ही ब्रिटेन में शल्य चिकित्सा हेतु विविध उपकरण बनता था।

स्पष्ट है कि अरबों, तुर्कों, मुगलों, पुर्तगालियों एवं अंग्रेजों ने शोषण कर विविध शिल्पी-कारू जातियों को 'दलित' बनाया न कि ब्राह्मणों ने!

4. कोलंबस के अमेरिका आगमन के समय वहाँ 12 करोड़ लोग रहते थे। औपनिवेशीकरण के सौ वर्षों के भीतर केवल एक करोड़ बीस लाख बचे। कैरिबियाई

द्वीपसमूह के अस्सी लाख मूल निवासी कोलंबस के आगमन के एक सदी के भीतर पूर्णतया नष्ट कर दिए गए। तस्मानिया के सारे मूल निवासी केवल एक अभियान में मार डाले गए। अफ्रीका के औपनिवेशीकरण के समय पाँच करोड़ काले 'बर्बर' मूल निवासी मारे गए। ऑस्ट्रेलिया के अधिकतर मूल निवासी सामूहिक नरसंहार के शिकार हुए। धर्मान्ध ईसाई गोरी जातियों द्वारा मानवता के प्रति किए एतिहासिक अपराधों का लक्ष्य था—'सभ्य' जातियों के लिए 'वासयोग्य भूमि' (Lebensraum : living space) प्रदान करना।

5. जिहादी अमरनाथ यात्रा बाधित करते रहते हैं। परन्तु ऐसा नहीं कि केवल हथियारबन्द हमलावर ही जिहादी हैं, कई कलमघिस्सू भी यही कर रहे। एक है प्रो. इरफान हबीब; वामपंथी चोला धारण किए मध्यकालीन भारतीय इतिहास का 'मूर्धन्य' विद्वान-बाबरी मस्जिद का समर्थक! दिसम्बर 6, 1992 ई. को दासता की प्रतीक बाबरी मस्जिद को हिन्दू भीड़ ने नष्ट कर दिया। तत्समय कुल 283 वस्तुएँ मिली थीं। हबीब ने घोषणा कर दी थी कि उसने कार्बन डेटिंग तकनीक का उपयोग किया तो यह पता चला कि उपलब्ध पुरातात्त्विक वस्तुएँ पुरानी नहीं हैं। पुरातत्त्व विभाग के एक अधिकारी ने, जिसने इरफान हबीब की कार्बन डेटिंग प्रक्रिया को देखा था, कहा था कि अगर हम हबीब की प्रक्रिया का पालन करें, तो अकबर का शासनकाल सन् 2009 ई. में प्रारम्भ होगा!

6. सतीत्व रक्षा हेतु चित्तौड़ की रानी पद्मिनी ने सन् 1303 ई. में 16,000 महिलाओं के साथ प्रजज्वलित अग्नि में प्रवेश कर जौहर किया था। चित्तौड़ के किले पर चढ़ाई करने हेतु 'सूफी' अमीर खुसरों भी गया था, सुल्तान अला-उद्-दीन खिलजी के साथ। वह 'तारीख-ए-अलाई' में लिखता है कि सुल्तान ने 30,000 हिन्दुओं का वहाँ नरसंहार कराने के पश्चात् चित्तौड़ का नामकरण अपने पुत्र खिज्र खान के नाम पर 'खिज्राबाद' कराया।

7. नोटबन्दी पर विपक्ष को आपातकाल जैसी परिस्थिति दिख रही थी। सर्वोच्च न्यायालय को भी भय था कि 'दंगा भड़क सकता है।' न्यायालय ने टिप्पणी की थी कि 'लोग परेशान हैं और गुस्से में हैं'। परन्तु सामान्य भारतीय अधिक समझदार निकले। वे प्रसन्नतापूर्वक कठिनाई झेल रहे थे।

वस्तुतः भ्रष्ट कोलेजियम व्यवस्था से आए न्यायाधीश जनता से पूर्णतया कट चुके हैं। ध्यातव्य है कि कोलेजियम व्यवस्था का संविधान में न तो उल्लेख है और न ही कोई संकेत।

•

नवजागरण, गाँधी और राष्ट्रभाषा

मनोज पाण्डेय*

भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन वस्तुतः नवजागरण की उपज था। मध्यकालीन सामंतवाद-साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद से मुक्ति की कामना नवजागरण और इससे उपजे राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन का मुख्य विषय था। नवजागरण से ही समूचे राष्ट्र में कमोवेश एक साथ राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। उन्नीसवीं सदी का यह दौर जो उत्तरोत्तर और बृहद होता गया, उसमें अनेकानेक सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन चले। राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीयता के विकास में उसकी निर्णायक और योगकारी भूमिका रही।

यह अकारण नहीं कि सन् सत्तावन की क्रांति से ही भारतीय नवजागरण के अग्रणी अन्वेषक डॉ. रामविलास शर्मा ने नवजागरण की शुरुआत मानी है। दरअसल यहीं से राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का मुकम्मल आग़ाज भी होता है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा भी भारतीय संदर्भ में यहीं से बननी शुरू होती है। धर्म, जाति, लिंग, क्षेत्र से परे राष्ट्राभिमान का प्रथम प्रदर्शन भी इसी आन्दोलन से परिलक्षित होता है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, महादेव गोविन्द रानाडे, ज्योतिबा फुले, स्वामी दयानंद सरस्वती, वीरेशलिंगम, नारायण गुरु, महात्मा गाँधी आदि ने आगे चलकर इस आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया।

भारतीय नवजागरण की पृष्ठभूमि में तीन बातें प्रमुख थीं— राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरूकता, स्वराज्य और राष्ट्रभाषा। कहना न होगा कि यही तीन बुनियादी मुद्दे थे जो समूचे राष्ट्र को एकीकृत करने के आधार भी थे। प्रथम स्वाधीनता संग्राम, जिसे रामविलास शर्मा ने नवजागरण का प्रस्थान माना है, का बीजभाव राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरूकता और स्वराज्य ही था, जिसके प्रसार का माध्यम बनी थी राष्ट्रभाषा हिन्दी। यह महज संयोग ही था कि हिन्दी प्रदेश में इस क्रान्ति के बीज पड़े। लेकिन सत्तावन

* मनोज पाण्डेय, हिन्दी विभाग, रा.तु.म. नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर-440033
ई-मेल : mkprtmnu@gmail.com

की चिन्गारी ने पूरे देश को आन्दोलित कर दिया था। वर्षों से सोई हुई जनचेतना को जागृत कर दिया था। भारतीय समाज में मध्यकालीन लोकचेतना के बाद जनचेतना का यह अद्‌भुत आगाज़ था। इसने बड़ी जल्दी ही पूरे देश में यह चेतना जागृत की कि समूचे देश को एक हुए बिना ग़ुलामी की बेड़ियों से छुटकारा नहीं मिल सकता। देश की इस धड़कन को समूचे देश में एक स्वर देने का माध्यम बनी हिन्दी। देश के पुरोधाओं ने समय रहते ही यह समझ लिया था कि यदि इस देश को आजाद कराना है तो सबसे पहले इसे एक सूत्र में जोड़ना ज़रूरी है। बहुभाषिकता-बहुसांस्कृतिकता के साथ ही अनेकानेक पक्षों से वैभिन्य रखने वाला यह राष्ट्र जब तक संवाद के लिए एक माध्यम से नहीं जुडता, तब तक इसको संगठित नही किया जा सकता।

संयोगवश हिन्दी ही वह एकमात्र ऐसी भाषा थी जो देश के अधिकांश हिस्सों में बोली और समझी जाती थी, अतः स्वाभाविक रूप से नवजागरण की चेतना का राष्ट्रीय स्तर पर संचार करने का माध्यम हिन्दी ही बनी। हिन्दी ने यह सिद्‌ध कर दिया कि राष्ट्रीय एकीकरण में राष्ट्रभाषा की भूमिका केंद्रीय होती है। इस तथ्य को नवजागरण के अग्रदूतों ने न सिर्फ़ समझा बल्कि पूरे देश को समझाया, चाहे वे साहित्यिक स्तर पर प्रयासरत भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी हों, चाहे राजनीतिक स्तर पर तिलक, गाँधी, श्यामाचरण मित्र, राजा राममोहन राय या कि धार्मिक-सांस्कृतिक स्तर पर प्रयासरत स्वामी दयानंद आदि। प्रो. कृष्णदत्त पालीवाल ने भारतीय नवजागरण में हिन्दी के राष्ट्रव्यापी महत्त्व को रेखांकित करते हुए ठीक ही कहा है 'इस हिन्दी से हिन्दी प्रदेशों में नवजागरण का प्रकाश फैला। इस स्थिति के कारण हिन्दी पाठ के साथ उपपाठ-अंतःपाठ की शक्ति-सम्पन्नता साम्राज्यवाद से मुक्ति का प्रतीक बनी। यह अंतःपाठ की ध्वनि गाँधी जी से पहले भारतेन्दु तथा भारतेन्दु युग के रचनाकारों में अदम्य उत्साह से सुनाई दी तथा पूरा का पूरा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग इसी गूँज से भर गया। स्वभाषा-स्वराज के हज़ारों-लाखों पाठक एक सन्देश के साथ उठ खड़े हुए। गाँधी जी ने इस मंत्रपाठ का गायन किया।'(गवेषणा, अंक-101; 2013, पृ.-91)

उल्लेख्य है कि इतिहासकारों, भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने भी, भारतीय नवजागरण को लेकर जो रायशुमारी कायम की है उसमें भाषा-राष्ट्रभाषा का मुद्‌दा तो कम-ज़्यादा रहा है, लेकिन राष्ट्रभाषा को राष्ट्रीय चेतना की नेतृत्वकारी भाषा बनाने की जो पहल महात्मा गाँधी ने की और भारतीय नवजागरण की चिन्गारी को समूचे राष्ट्र में एक साथ प्रसारित करने का प्रयत्न किया, उसको साहित्येतिहास में विशेष तवज्जो नहीं दी है। जबकि यह सच्चाई है कि इस देश में आयी हुई जनचेतना को एकसूत्र में पिरोने का कार्य गाँधी और हिन्दी ने किया। स्वभाषा को स्वाभिमान से जोड़कर गाँधी जी ने इस बात पर सदैव बल दिया कि स्वभाषा की उन्नति के बिना राष्ट्रीय एकता क़ायम नहीं हो सकती। इस विश्वास के पीछे उनका अनुभव, अहसास और प्रगाढ़ अध्ययन था। कहना न होगा, यह गाँधी जी का स्वप्न नहीं सत्य था।

ग़ौरतलब है कि 5 जनवरी 1915 को गाँधी विलायत से भारत आते हैं, उनके पूर्व कई विद्वान और राष्ट्रभक्त स्वाधीनता संग्राम, स्वराज्य, स्वभाषा की लडाई का नेतृत्व कर रहे थे। पहली मर्तबा गाँधी ने इसे राष्ट्रीय मुहिम बनाया और एक साथ पूरे देश को आज़ादी हेतु तत्पर और संगठित किया। गाँधी जी को यह पता था कि विविधताओं से भरे इस देश में यह कार्य आसान नहीं होगा। इसीलिए सबसे पहले उन्होंने जिस बात पर सर्वाधिक बल दिया वह थी राष्ट्रभाषा। गाँधी जी जानते थे कि जब तक समूचे राष्ट्र को एक भाषा से नहीं जोड़ा जाएगा, तब तक एक मक़सद होने के बावजूद राष्ट्र को एक साथ नहीं लाया जा सकेगा। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के विकल्प के रूप में प्रस्तुत करने का उद्‌देश्य यही था। यह कार्य आमजन से शुरू करने की बजाय उन्होंने बुद्धिजीवियों, समाजसेवकों-विचारकों के मध्य प्रारम्भ किया। 20 अक्टूबर 1917 को गुजरात के द्वितीय शिक्षा सम्मेलन को संबोधित करते हुए राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की वकालत करते हुए उन्होंने कहा, 'कुछ देशभक्त विद्वानों का कहना है कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा बनायी जा सकती है या नहीं? यह प्रश्न ही अज्ञानावस्था का सूचक है। हम ज़रा गहराई से देखें, तो पता चलेगा कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती, और न उसका प्रयत्न किया जाना चाहिए। तब राष्ट्रभाषा के क्या लक्षण होने चाहिए। इस पर विचार करें–

1. वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए आसान होनी चाहिए।
2. उस भाषा द्वारा भारत का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक कामकाज शक्य होना चाहिए।
3. उस भाषा को भारत के ज़्यादातर लोग बोलते हों।
4. वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान होनी चाहिए।
5. उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या अस्थायी स्थिति पर ज़ोर न दिया जाए। –अंग्रेजी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं हैं। (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड-14 पृ.-28)

यही नहीं, महात्मा गाँधी ने न सिर्फ़ इन पाँच लक्षणों को राष्ट्रभाषा के लिए अनिवार्य बताया, बल्कि यह भी तर्कानुसार सिद्ध किया कि हिन्दी में ये सभी विशेषताएं मौजूद हैं। 11 नवम्बर 1917 को बिहार के मुजफ्फरपुर में एक सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा–'मैं कहता आया हूँ कि राष्ट्रीय भाषा एक होनी चाहिए और वह राष्ट्रभाषा हिन्दी होनी चाहिए।' इसके पीछे गाँधी जी का राष्ट्रप्रेम तो था ही, उनकी यह तर्कसंगत दलील भी थी कि राष्ट्रोत्थान के लिए जनजागृति को जब तक एकभाषा के सूत्र से नहीं बाँधा जाएगा, तब तक समग्र राष्ट्र को जोडा नहीं जा सकेगा। उनके समक्ष चुनौती यह थी कि पहले समग्र राष्ट्र को संगठित किया जाए और सभी के बीच संवाद क़ायम हो। बहुभाषी समाज में संवाद की एक भाषा तय करना मुश्किल कार्य था। इसीलिए सबसे पहले देश के उस प्रबुद्ध

वर्ग को, जो इस राष्ट्रीय सच्चाई को अस्वीकार कर रहा था, इसके लिए तैयार किया। 'हिन्द स्वराज' में 1909 में ही गाँधी यह स्पष्ट कर चुके थे कि 'करोड़ों लोगों को अंग्रेजी की शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मैकाले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली, वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी। यह कितने दुःख की बात है कि हम स्वराज की बात भी परायी भाषा में करते हैं।' अंग्रेजी के मोह से मुक्त होने का आह्वान करते हुए कोलकाता विश्वविद्यालय में एक सभा को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—'देश सेवा करने के लिए सब उत्सुक हैं, परन्तु राष्ट्रसेवा तब तक संभव नहीं जब तक कोई राष्ट्रभाषा न हो। दुःख की बात है कि हमारे बंगाली भाई राष्ट्रभाषा का प्रयोग न करके राष्ट्रीय हत्या कर रहे हैं। इसके बिना देश की आम जनता के हृदयों तक नहीं पहुँचा जा सकता।' (वही)

असल में गाँधी जी देश के विभिन्न अंचलों में भ्रमण कर रहे थे और यह महसूस कर रहे थे कि स्वराज्य के लिए स्वभाषा का होना नितांत आवश्यक है। भारतेन्दु ने ठीक ही कहा है—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल
बिनु निज भाषा ज्ञान के मिटै न हिय को शूल।

गाँधी जी जब यह कहते हैं कि दुनिया से कह दो कि 'गाँधी अँग्रेजी नहीं जानता' तो इसके पीछे उनकी यह बलवती आकांक्षा ही दिखती है कि राष्ट्र को अपनी राष्ट्रभाषा (मादरी ज़बान) के लिए कैसे उद्वेलित किया जाए। इसके लिए बौद्धिक वर्ग से लेकर जनसाधारण तक को राष्ट्रभाषा के सवाल पर गाँधी सहमत करते-कराते रहे। भारतीय जनमानस को संकल्पबद्ध कराने में गाँधी जी की यह पहली विजय थी। बांग्ला साहित्य के सिरमौर रवीन्द्रनाथ ठाकुर को इस संदर्भ में गाँधी जी ने 1918 में एक पत्र लिखा जिसमें इन्दौर में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अपने अभिभाषण के मुद्दे से अवगत कराते हुए यह राय मांगी कि इस दिशा में क्या-कुछ किया जा सकता है। देखें पत्रांश—'प्रिय महोदय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में इन्दौर में मैं जो भाषण दूँगा उसके लिए मैं निम्नलिखित प्रश्नों पर विचारवान नेताओं के मत एकत्र करने का प्रयत्न कर रहा हूँ—

1. क्या हिन्दी अंतर्प्रांतीय व्यवहार तथा अंतर्राष्ट्रीय कार्यवाहियों के लिए उपयुक्त एकमात्र संभव राष्ट्रीय भाषा नहीं है?
2. क्या हिन्दी कांग्रेस के आगामी अधिवेशन में मुख्यतः उपयोग में लायी जाने वाली भाषा न होनी चाहिए।
3. क्या हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों में ऊँची शिक्षा देशी भाषाओं के माध्यम से देना वांछनीय और संभव नहीं है? और क्या हमें प्रारम्भिक शिक्षा के बाद अपने विद्यालयों में हिन्दी को अनिवार्य द्वितीय भाषा नहीं बना देना चाहिए?

- मैं यह महसूस करता हूँ कि यदि हमें जनसाधारण तक पहुँचना है और यदि राष्ट्रीय सेवकों को सारे भारतवर्ष के जनसाधारण से सम्पर्क करना है तो उपर्युक्त प्रश्न तुरन्त हल किये जाने चाहिए। क्या आप कृपया जल्दी से जल्दी उत्तर देकर मुझे अनुग्रहीत करेंगे।' (गाँधी का भाषा और साहित्य चिन्तन, डॉ. भगवान सिंह, पृ.-114)

कहना न होगा, नवजागरण की आवश्यकता यह भी थी कि कैसे जनचेतना को राष्ट्रव्यापी उद्देश्य के अनुरूप नेतृत्व प्रदान किया जाए। राजनीति में यह कार्य गाँधी जी बख़ूबी कर रहे थे, भाषा के स्तर पर राष्ट्रभाषा हिन्दी ने वही नेतृत्वकारी कार्य किया। जो लोग सिर्फ़ अंग्रेजी के क़ायल थे या जहाँ केवल अँग्रेजी में कामकाज होता था, वहाँ भी गाँधी जी ने हिन्दी को लागू कराया। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में हिन्दी को व्यवहार की भाषा बनवाया। देश के नेतृत्वकारी वर्ग को इसके लिए सहमत कराया कि राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपने व्यवहार की भाषा बनाएँ, जिससे जनमानस सहज ही प्रेरित हो। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने को गाँधीजी ने राष्ट्रीय दायित्व करार देते हुए देशवासियों का आह्वान किया कि 'हमें तब तक विश्राम नहीं लेना चाहिए जब तक हमारे स्कूलों और कॉलेजों में हमें देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा नहीं दी जाती। हमारे लिए अपने अंग्रेजी मित्रों के लिए भी अंग्रेजी में बोलना आवश्यक नहीं होना चाहिए। प्रत्येक अंग्रेज शासनिक और सैनिक अधिकारी को हिन्दी जाननी चाहिए। बहुत से अंग्रेज व्यापारी हिन्दी सीखते हैं, क्योंकि उन्हें अपना व्यापार चलाने के लिए उसकी आवश्यकता होती है। ऐसा दिन अवश्य ही जल्दी आना चाहिए, जबकि हमारी विधान सभाओं में राष्ट्रीय मसलों पर देशी भाषाओं में या हिन्दी में, जहाँ जो भी उपयुक्त हो, बहस की जाएगी।' (वही, पृ. -113)

स्पष्ट है कि गाँधी जी यह जानते थे कि पूर्व और पश्चिम, उत्तर और दक्षिण पूरे भारतवर्ष की जहाँ जो प्रमुख राज्यभाषा हो उसे अपनाया जाए, साथ ही केंद्रीय स्तर पर हिन्दी को अर्थात् राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को। कहना न होगा गाँधी जी सभी भारतीय भाषाओं का न सिर्फ़ सम्मान करने की वकालत करते थे, बल्कि उसे व्यवहार में प्रमुखता से अपनाने के भी पक्षधर थे, क्योंकि राज्यों की भाषाओं की समृद्धि में ही उन्हें राष्ट्रभाषा की समृद्धि नज़र आती थी। इसीलिए प्रांतीय भाषाओं को नदी तो हिन्दी को वे समुद्र की संज्ञा देते थे और यह अपेक्षा व्यक्त करते थे कि दोनों का समान अस्तित्व क़ायम रहे। प्रत्येक भारतीय को जाति, धर्म, पंथ से परे जाकर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को अपनाना चाहिए। 'हिन्द स्वराज' में उन्होंने अपनी इस प्रतिज्ञा को बहुत पहले ही घोषित कर दिया था कि 'प्रत्येक पढ़े-लिखे भारतीय को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का और हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए। सारे भारत के लिए जो भाषा चाहिए वह तो हिन्दी ही होगी। उसे उर्दू या देवनागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए।'(हिन्द स्वराज्य) यही वजह है कि वे भाषा को जाति-धर्म से जोड़कर नहीं देखते थे और न

ही उनके लिए हिन्दी किसी जाति की भाषा थी। हिन्दी को वे करोडों-करोड़ भारतीयों की भाषा मानते थे। 'हिन्दी जाति' की उनकी अवधारणा में समग्र भारत था। उनके लिए हिन्दी भारतीयता की पहचान थी। वे राष्ट्रभाषा को प्रान्तीयता, जातीयता के दायरे से ऊपर उठकर राष्ट्रीयता के स्तर पर देखते थे, समूचे राष्ट्र की अस्मिता से जोड़कर देखते थे। उनके लिए हिन्दी सिर्फ़ हिन्दी प्रान्तों की भाषा नहीं, बल्कि राष्ट्रीय चेतना की वाहक थी। देश के दक्षिणी राज्यों जहाँ हिन्दी का प्रचार-प्रसार कम था, वहाँ इस दिशा में कार्य करने का वीणा उठाया। स्वयं के प्रयत्नों से हिन्दी प्रचार संस्था स्थापित करायी और हिन्दी के शिक्षक-प्रशिक्षक तैयार करवाये। गाँधी जी की चिन्ता समूचे राष्ट्र कों लेकर थी, इसलिए वे राष्ट्रभाषा को किसी पर थोपने की बात नहीं करते थे, बल्कि लोगों को इसके लिए तैयार करते थे कि वे स्वतः राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपनाएँ और अपने राष्ट्रीय दायित्व को समझें।

गाँधी जी ने पूर्ण स्वराज्य का जो सपना देखा था, उन्हें पता था कि वह तब तक नहीं हासिल किया जा सकता जब तक कि राष्ट्रभाषा को राष्ट्रीय चेतना का अंग नहीं बनाया जाएगा। अपने इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने न सिर्फ़ राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को अपनाने पर ज़ोर दिया, बल्कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप और महत्व को भी रेखांकित किया। भाषाई सौहार्द की दृष्टि से वे हिन्दी के हिन्दुस्तानी रूप को प्रश्रय देते थे। उनके अनुसार, 'हिन्दी वह भाषा है, जिसको उत्तर में हिन्दू व मुसलमान बोलते हैं और जो नागरी अथवा फारसी लिपि में लिखी जाती है। यह हिन्दी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न वह एकदम फारसी शब्दों से लदी हुई है। देहाती बोली में जो माधुर्य मैं देखता हूँ, वह न लखनऊ में मुसलमान भाइयों की बोली में है और न प्रयाग के पंडितों की बोली में पाया जाता है। भाषा वही श्रेष्ठ है जिसको जनसमूह सहज में समझ ले। देहाती बोली सब समझते हैं। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्यरूपी हिमालय में मिलेगा और उसमें ही रहेगा। हिमालय में से निकली हुई गंगाजी अनंतकाल तक बहती रहेंगी। ऐसा ही देहाती हिन्दी का गौरव रहेगा। और जैसे छोटी-सी पहाड़ी से निकला हुआ झरना सूख जाता है, वैसे ही संस्कृतमयी तथा फारसीमयी हिन्दी की दशा होगी।' (वही, पृ. -217)

गाँधी जी ऐसे लोकनायक थे जिन्हें यह पता था कि जब तक जाति, धर्म की चौहद्दी से बाहर निकलकर नहीं सोचा जाएगा, तब तक न तो राष्ट्रीयता की भावना का समुचित विकास होगा और न ही स्वराज्य हासिल हो सकेगा। इसीलिए उन्होंने हिन्दी-उर्दू का झगड़ा छोड़ने पर बल दिया। असल में वे नवजागरण की उस चेतना की लौ को भाषा के माध्यम जलाये रखना चाहते थे और उसे पूरे देश में फैलाना चाहते थे, जिससे देश में स्वत्वबोध पैदा हो। कहना न होगा कि इस मक़सद में वे काफ़ी हद तक सफल हुए। भारतीय नवजागरण के अभिप्राय को सच्चे अर्थों में गाँधी जी ने ही समझा और उसका उचित प्रयोग स्वराज के लिए किया। राष्ट्रभाषा को स्वराज्य की

एक अपरिहार्य आवश्यकता मानते हुए ही उन्होंने इन्दौर वाले भाषण में कहा था—'मेरा नम्र लेकिन दृढ अभिप्राय है कि जब तक हम हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय और अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं को उनका योग्य स्थान नहीं देते, तब तक स्वराज्य की सब बातें निरर्थक हैं।' (वही, पृ -220)

गाँधी-दर्शन के अध्येता डॉ. भगवान सिंह की इस बात से मैं सहमत हूँ कि 'वस्तुतः गाँधी जी के कार्यों के रूप में भारतीय नवजागरण ने अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पायी, उसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था सांस्कृतिक जागरण। कोई भी सांस्कृतिक जागरण भाषा और साहित्य के जागरण के बग़ैर अपनी परिपूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। किसी भी देश के सांस्कृतिक जागरण में वहाँ की भाषा और साहित्य की महत्त्वपूर्ण नियामक भूमिका होती है। इस तथ्य को गाँधी जी ने अच्छी तरह पहचाना था।' (गाँधी का भाषा और साहित्य चिन्तन, डॉ. भगवान सिंह, पृ. -174) कहना न होगा, साहित्य समाज की भावदशा की ही अभिव्यक्ति है। महात्मा गाँधी समाज-चेता नेता थे। समाज की प्रगति के लिए भाषा और साहित्य की भूमिका से वे परिचित थे। हिन्दी के राष्ट्रीय महत्त्व से भलीभाँति वाक़िफ़ थे। इसीलिए हिन्दी को वे हिन्दी प्रदेशों तक सीमित नहीं देखते थे, बल्कि इसे ऐसे सागर के रूप में देखते थे जिससे सभी प्रान्तों के महात्मा समान आदरभाव के साथ जुड़ सकें। वजह यह कि नवजागरण काल में कमोवेश समग्र भारत में जिस नवचेतना का संचार हो रहा था, उसमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने के लिए यह अपरिहार्य था कि समूचे राष्ट्र की एक केंद्रीय भाषा हो। गाँधी जी ने बराबर इस बात पर ज़ोर दिया कि 'मेरी राय में भारत में सच्ची राष्ट्रीयता के विकास के लिए हिन्दी का प्रचार एक ज़रूरी बात है। विशेष रूप से इसलिए कि हमें उस राष्ट्रीयता को आम जनता के अनुरूप साँचे में ढालना है।' (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, खण्ड-26, पृ. -390)

इसमें कोई दो मत नहीं कि गाँधी जी ने अफ्रीका प्रवास के दौरान जो अनुभव प्राप्त किया था, उसी के आधार पर उन्होंने समूचे देश को एक भाषा में जोड़ने का सद्प्रयास किया। भाषा-प्रेम को राष्ट्रीय नवजागरण का मूल सिद्ध करते हुए पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण चहुँ ओर पनप रही राष्ट्रयता की भावना को राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से संगठित किया। गाँधी जी का यह अन्यतम प्रदेय है, इसको उनके हिन्दी भाषा प्रेम तक ही सीमित करके देखना बेमानी होगा। दरअसल यह राष्ट्रीय आवश्यकता थी, जिसका भारतीय नवजागरण से सीधा संबंध था, इसे सबसे पहले और सही रूप में समझा था- राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने। अतः वस्तुतः गाँधी जी का प्रदेय यह है कि उन्होंने भारतीय नवजागरण की मूल आवश्यकता को समझा और हिन्दी को राष्ट्रीय अभियान से जोड़ते हुए स्वराज्य का मूल अस्त्र घोषित किया।

•

गाँधी की वाग्मिता

डी.एन. प्रसाद*

गाँधी! आध्यात्मिक अनुभूति का आदमी! नैतिक-निर्माण का नवोन्मेषी! सामाजिक सत्य का अनुसंधानकर्ता! सत्य में ईश्वर की गवेषणा! सृष्टि में संरचना का सायली! मनुष्य के नैतिक-निर्माण की कार्यशाला! दैनन्दिनी का सुन्दर सम्पोषक! जिजीविषा की जागृत प्यास! जीवटता का जीवन्त इतिहास! अहिंसक संघर्ष का सेनापति! स्वतन्त्रता संग्राम का अहिंसक यौद्धा! प्रेम की परिपूरक इकाई! आर्थिक-संरचना का सुन्दर निवेशक! समन्वयवादी संस्कृति का संवाहक! सर्वधर्म समभाव का सारथी! सबके उदय की चिन्ता! सत्य का सतत् आग्रही! सविनय अवज्ञा का अन्वेषक! सामाजिक उत्थान का चितेरा! राजनीति में धर्म की अवधारणा! शैक्षिक मूल्यों का मीमांसक! शांन्ति-सौन्दर्य का उपासक! पत्रकारिता का नैतिक पोषक! भाषा का भावान्तक अर्थविस्तारक! मानव-मुक्ति का उत्कृष्ट उद्घोषक! सादगी की स्वस्थ मूर्ति! और अहिंसा का अभिताभ!

गाँधी शब्दों के बाज़ीगर थे! शब्द-स्वरूप की कोई भी विधा क्यों न हो, अक्षरों के ताने-बाने से बुने स्वर लहरी वाले शब्द ही गाँधी के कर्ण-कुहरों के हेतु अभिनन्दित होते थे। 'सत्याग्रह' शब्द के संधान में न जाने कितने समय की परिधि घूम गई थी, तब जाकर यह शब्द प्रतिश्रुत हुआ। सोचिए, सत्य के लिए आग्रह! सत्य जो स्वयं में निरापद है, उसके लिए इस संसार में आग्रह; जबकि वैदिक-वाङ्मय का यह आप्त सूत्र है—'सत्यमेव जयते!' अहिंसक प्रतिरोध की प्रविधि के रूप में निःसृत 'सत्याग्रह' गाँधी के वाक्-चातुर्य की वाग्मिता के स्वरूप में अश्वशक्ति का संचार है, जिसने दुनिया को एक नयी शब्द-शक्ति दिया अभिधा के रूप में, व्यंजना के रूप में, लक्षणा के रूप में! इन त्रयशक्तियों के समाहार स्वरूप 'सत्याग्रह' ने सफलता का सूत्र दिया भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को!

डॉ. डी.एन. प्रसाद, प्राध्यापक, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, गाँधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र), मो. 09420063304, ई-मेल : dnpsayal@yahoo.co.in

गाँधी ने स्वीकारा है, ''सत्य की खोज में ही अहिंसा का साधन मुझे प्राप्त हुआ। यदि मेरा कोई सिद्धान्त कहा जाए तो वह इतना ही है और मैंने जो कुछ किया है, वही सत्य की अहिंसा की सबसे बड़ी टीका है।'' (सावली, 03.03.1936, वाङ्मय खण्ड-62, पृ.238) सत्य के संधान में सत्याग्रह मिला, अहिंसा से उसकी प्रतिपूर्ति हुई। अ-हिंसा, हिंसा से परे 'अहिंसा' अपने प्रत्यय बोध में नकारात्मक अर्थ (हिंसा नहीं करना) लेते हुए सकारात्मक तत्त्वबोध से विभूषित है, जिसे जैनों और बौद्धों ने अपनाया तो ज़रूर, लेकिन गाँधी ने उसे समाजबोध की सामाजिकी में पिरो दिया और यह गाँधी की वाग्मिता-शक्ति का पर्याय बन गयी। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इस अहिंसा शब्द का शब्दार्थ समझा, गाँधी इसका वागर्थ समझ चुके थे, तभी डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी काव्यभाषा में इसे बोधित किया, ऐसे 'शब्द' ने अनोखे आन्दोलन को रूप दिया, परिपुष्ट किया और सफलता तक पहुँचाया। ऐसे 'शब्द' जिन्होंने संख्यातीत व्यक्तियों को प्रेरणा दी और प्रकाश दिखाया, ऐसे 'शब्द' जिन्होंने जीवन का एक नया ढंग खोजा और दिखाया, ऐसे 'शब्द' जिन्होंने उन सांस्कृतिक मूल्यों पर जोर दिया, जो आध्यात्मिक तथा सनातन है समय और स्थान की परिधि के परे है और सम्पूर्ण मानवजाति तथा सब युगों की सम्पति है।' अहिंसा की यह चतुर्दिक शक्ति युगबोध के हेतु वाङ्मय की वाग्मिता है।

सत्य के सत्यार्थ का साक्षात्कार गाँधी को ही हुआ समग्र स्वरूप में, तभी उन्हें 'ईश्वर सत्य है' की जगह, 'सत्य ही ईश्वर है' का सर्वांग बोध हो गया। सत्य का 'स्व' दर्शित होने लगा। इस नैतिक अनुभूति-ही उन्हें दार्शनिक ही नहीं, व्यावहारिक दार्शनिक बना दिया। सर्वत्र सत्य की छाया आच्छादित होने लगी, गाँधी का दृष्टि-बोध 'सत्य-स्वरूप-दृष्टिगोचर' हो गया।

अनुवाद की भावशक्ति गाँधी के लिए प्रतीकार्थ थी, सत्य का भान था क्योंकि अनुवाद का शब्दार्थ तो बालबुद्धि की क्रीड़ा समान होता है। गुजराती में लिखा 'हिन्द स्वराज' जब गाँधी अंग्रेजी में अनुवाद करते हैं तो वह 'इण्यिन होम रूल' (Indian Home Rule) शीर्षक से आता है, हिन्दी में शीषक 'हिन्द स्वराज' होता है। अंग्रेजी शीर्षक पर ध्यान देने की बात है। हिन्द स्वराज के लिए Indian Home Rule कितना सार्थक भावार्थ प्रतीकार्थ देता है। 'Home Rule' का 'स्वराज' स्व का सत्यार्थ है जो 'निज' के नियमन की ओर संकेत है, क्योंकि बिना स्वानुशासन के राजकाज में सत्य का निरापद निर्वहन कहाँ? सुचिता कहाँ? फिर गाँधी बोध कहाँ?

निज के नियमन पर ही सत्ता की शुचिता है, स्व की शुचिता है, निजगृह की शुचिता है। स्वराज की शुचिता में स्वशासन का सत्व बोध है, जो हिन्द को स्व के बोध से शासित करना चाहता है, तभी 'हिन्द स्वराज' का वागर्थ स्पष्ट होगा। यहाँ यह भी कहना समीचीन होगा कि Indian Home Rule का दर्शन-चिन्तन समझे बिना 'हिन्द स्वराज' का अनर्गल अर्थ 'हिन्द स्वराज्य' हो जाएगा और ज़्यादा सुधि पाठक 'हिन्द

स्वराज्य' का शिकार होकर 'हिन्द स्वराज' को आज तक नहीं समझ पाये। स्वतन्त्रता मिली, 'हिन्द स्वराज्य' मिल गया, लेकिन 'हिन्द स्वराज' विलोमित हो गया। हिन्द स्वराज के अध्याय-9, पृ.-26, वाङ्मय खण्ड-10 पृ. की पंक्ति द्रष्टव्य है—'पहले तो रेलवे के कारण अपने को अलग-अलग राष्ट्र मानने लगे, और फिर रेलवे ने हमें एक राष्ट्रीयता का विचार वापस दिया।' यह गाँधी की वाग्मिता है, गाँधी के वाङ्मय की वाग्मिता! इसी तरह जब वे वकील, डॉक्टर, पार्लियामेंट के साथ यंत्रों की मर्यादा कहते हैं, तो कितनी मानवीयता छलक आती है, अंधाधुंध यंत्रों का परिचालन भी तो यंत्रों का शोषण ही है, अतः उसकी भी मर्यादा का ख़याल कितना मानवी है!

'कुदरती उपचार', 'आरोग्य की कुँजी' शीर्षक उनकी छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ अपने विषयानुकूल वागर्थ से भरी हैं, जिनका व्यावहारिक उपयोग समाजोपयोगी स्वस्थ-समाज-रचना के हेतु है। यहाँ शब्दों का संगमन देखने लायक है—'कुदरती उपचार' यहाँ दो शब्द दो भाषा के भावान्तक सेतु बनकर शब्द-सौन्दर्य को पूरित करते हैं। 'आरोग्य की कुँजी' तत्सम के साथ तद्भव (लोक शब्द) का संगमन शब्द-सौन्दर्य को सहज आकर्षक करता है।

'वाङ्मय' का एक अर्थ होता है वचन सम्बन्धी! यानी जब गाँधी के सम्पूर्ण को समेटता हुआ तो न सम्पूर्ण गाँधी ग्रंथावली, न सम्पूर्ण गाँधी रचनावली शीर्षक अभिहित हुआ, बल्कि 'सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय' शीर्षक अभिहित हुआ। ध्यान देने की बात है कि गाँधी की जितनी भी रचनात्मकता है, लगभग सभी वाचिक रचना है अर्थात् वाक्-व्यवहार के सन्दर्भ में भाषण हो, बातचीत हो, पत्र-व्यवहार हो, विचार-पत्र हो या कार्य-निर्धारण हेतु कार्यवाही हो, सबका सब समसामयिक विचार परम्परा का संवाहक! इसलिए 'गाँधी वाङ्मय' शीर्षक सार्थक हुआ और उस सम्पूर्ण में वचन सम्बन्धी वाग्मित-वागर्थ को ही सम्मिलित किया गया।

'सादा जीवन जटिल जीवन से अच्छा होता है, क्योंकि उसमें ऊँची-प्रवृत्तियों के लिए समय मिल जाता है। (वाङ्मय खण्ड-10, पृ.-299, रेड डेलीमेल, 27.06.1910) गाँधी का यह वचन/कथन अभिधा में भी लक्षण की व्यंजना है। वैसे ही 'मेरे सपनों का भारत' शीर्षक उनकी पुस्तिका अभिधात्मक व्यंजना की तरह हमें सपनों के भारत की परिकल्पना के हेतु अभिप्रेरित करती है। आन्दोलनों की शृंखला में 'सविनय अवज्ञा' विनय के साथ आज्ञा की अवहेलना स्वाभिमान को वाक्-चातुर्य से स्थापित करता, जिसमें विपक्षी मूक बना रह जाता है। 'असहयोग आन्दोलन' हमें आपसे विरोध नहीं है, पर आपका सहयोग नहीं करेंगे, से दूसरा पक्ष शिथिल पड़ जाता है। कहने का तात्पर्य कि प्रतिरोध की यह अहिंसक अवधारणा अन्यत्र कहीं नहीं। अवज्ञा भी विनय के साथ, असहयोग से आन्दोलन का ईजाद। हिंसा-अहिंसा का यह संगमन अद्भुत और चमत्कारिक! शब्द की भाष्य-शक्ति का अमोघ-अस्त्र!

'सविनय अवज्ञा' को हेनरी डेविट थोरो के 'सिविल डिसओबेडिएंस से सम्पृक्त कर देखा जाता है, लेकिन Civil Disobedience का 'सविनय अवज्ञा' की अवधारणा

विकसित करने में गाँधी को कितने-कितने दिवस के चिन्तन से गुज़रना पड़ा होगा, तब जाकर 'सविनय अवज्ञा' जैसे प्रत्यय पद का उद्भव हुआ होगा। अर्थात् स्वार्थ से ऊपर उठकर देखने की दृष्टि से ही ऐसे प्रत्यय की प्रतिभूति हुई होगी। ठीक इसी तरह सर्वोदय को जॉन रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' का पर्याय माना जाता है, लेकिन Unto this Last को 'सर्वोदय' होने में सर्वहित की चिन्ता का भारतीय चिन्तन प्रतिफलित हुआ है, यह है सबके सुख में मेरा सुख का आनन्द-दर्शन, जो गाँधी की चित्तवृत्ति है और यही गाँधी का शब्दसंधान शब्दशक्ति का प्रतिफल देता है, यह शोध-वृत्ति भी है। प्राप्त तत्त्व से अपना निहितार्थ सर्वहित के हेतु सम्प्रत्यय बना देना जो शाश्वतसम्प्राप्ति का पर्याय बन जाए, वह सर्वहित की चिन्ता का चिन्तन है!

'एकादशव्रत' व्यक्तित्व निर्माण की इकाई का भावार्थ है जिसे व्रत की संज्ञा दी गयी है, ताकि नियमन-संयमन की प्रतिपूर्ति व्यक्ति में हो, जिससे नैतिक मनुष्य का निर्माण सम्भव हो। गाँधी का चिन्तन-दर्शन सबसे ज्यादा मानवता के हेतु के लिए है। पंचमहाव्रत में छः संकल्पों के योग से गाँधी ने अलौकिक में लौकिक एकादशी व्रत की परिकल्पना का उन्नयन कर दिया, यह गाँधी की अन्तश्चेतना की भावव्यंजना है नियमन-संयमन के लिए। इस तरह व्यक्तित्व की इकाई जब समाज में खड़ी हो तो उसमें रचनात्मक-शक्ति का स्रोत हो। इस पर्याय की पूर्ति के लिए समाज की संरचनात्मकता के निर्माण हेतु 'रचनात्मक कार्यक्रम' का निर्धारण अद्भुत और सार्थक स्वरूप खड़ा करता है। गाँधी के लिए आज़ादी मिलनी तो प्राथमिकी में थी ही, परन्तु मनुष्य के सामाजिक निर्माण का सार्थक और नैतिक कारक क्या हो, यह ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था, ताकि हर 'हाथ' और 'हृदय' का सही दिशा में निर्माण का नवोन्मेष होता रहे, इस अर्थ में निर्माण का समाज-दर्शन गाँधी के लिए आवश्यक था।

गाँधी 'जीवन की नैतिक कार्यशाला' के हेतु जब 'सात सामाजिक पाप' की उद्बोधना करते हैं, तो प्रस्तुत शीर्षक-बोध एकबारगी चिन्तन के चित को विचलित कर देता है। यह विचलन ही 'सात सामाजिक पाप' की दर्शना से परिचित कराता है, यथा कबीर की वाणी भी विचलन से अर्थित होती है, बहुत कुछ गाँधी के वाक् भी ऐसे ही वाग्मित होते हैं— श्रमरहित सम्पत्ति, चेतनहीन आनन्द, चरित्रहीन ज्ञान, नैतिकताहीन व्यापार, मानवताविहीन विज्ञान, सिद्धांतहीन राजनीति, त्यागरहित पूजा। ये सात सूत्र अपने ही शब्दों में शब्दित होकर सार्थक अर्थबोध कराते हैं— पाप के पलछिन से मुक्त पवित्र आस्था में बँधने को; जहाँ सुख है, शान्ति है और है भयमुक्त जीवन; और इसके 'हेतु बन्धन' में बँधने के लिए गाँधी निवेदन करते हैं— आप अपना दिवसारम्भ प्रार्थना के साथ कीजिए और उसमें अपना हृइय इतना उड़ेल दीजिए कि वह शाम तक आपके साथ रहे। दिन का अंत प्रार्थना के साथ कीजिए जिससे आपको स्वप्नों और दुःस्वप्नों से मुक्त शान्तिपूर्ण रात्रि नसीब हो। प्रार्थना के स्वरूप की चिन्ता न कीजिए। स्वरूप कुछ भी हो, वह ऐसा होना चाहिए जिससे हमारी भगवान के साथ लौ जल जाए।

इतनी ही बात है कि प्रार्थना का रूप चाहे जो हो जिस समय आपके मुँह से प्रार्थना के शब्द निकलें, उस समय मन इधर-उधर न भटके। प्रार्थना एक प्रकार का आवश्यक आध्यात्मिक अनुशासन है। (यंग इण्डिया, 23.01.1930, वाङ्मय खण्ड-42, पृ.-424)

गाँधी के जीवन के प्रार्थना का विशिष्ट स्थान था, वे प्रार्थना के बिना रह नहीं सकते थे, इस अर्थ-सन्दर्भ में वे आध्यात्मिक अनुभूति के आदमी थे। प्रार्थना की लौ उनके जीवन में दोनों पहर लगती थी। यथा कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की गेय प्रार्थना की पंक्तियाँ गाँधी जीवन को आलोकित करती हैं–

रश्मियाँ आतीं ऊषा की भेंट देने प्यार की।
साँझ की किरणें सजाती आरती मनुहार की।।

यानी सुबह की प्रार्थना की शाम की आरती दोनों ही जीवन में अनुषंगी हैं, अस्तु जीवन हेतु गाँधी की प्रार्थना दोनों पहर की ख़ुराक थी। उनकी प्रार्थना-सभा 'सर्वधर्म समभाव' के समन्वयवादी मूल्य की पोषिता है, जिसमें एकात्ममूल्य की भवधारा का प्रवाह मनुष्यता का सिंचन करती है, समन्वय ही संस्कृति की भारतीय परम्परा को पल्लवित करती है।

गाँधी के लिए राजनीति में 'धर्म' का प्रवेश एथिकल (Ethical) है, पॉलिटिकल (Political) नहीं। हमने अपनी बुद्धि दौड़ाई और उसे पॉलिटिकल बना दिया, यह प्रजातन्त्र के हेतु घातक सिद्ध हुआ। धर्म को राजनीतिक शस्त्र बना दिया गया, आज परिणाम सामने है। धर्म गाँधी के लिए नीतिधर्म है। नीति की नैतिकता के हेतु राजनीति में धर्म का यानी धर्मनीति का संचार हुआ। गाँधी के दिये गये धर्म-न्याय की शुचिता में हमने अधर्म-न्याय का रोपण करा दिया। इसलिए राजनीति जो राज की नीति थी अर्थात् प्रजा प्रालक की नीति थी, उसमें अलगाव व स्वार्थ की स्वनीति समाहित होकर 'सिद्धान्तहीन राजनीति' का हिंसक पर्याय बन गयी। राजनीति का अर्थ ही है– लोक कल्याण से सम्बन्धित प्रवृत्ति। तभी तो अनुशासित और प्रबुद्ध प्रजातन्त्र संसार की सुन्दरतम् वस्तुओं में से एक है। ('वाङ्मय खण्ड-47, भूमिका, पृ. -5, जून 1931) जब 'राजधर्म' पालन की बात सर्वमान्य है, तब तो राजनीति से विच्छिन्न धर्म निरर्थक ही है। वाङ्मय का वक्तव्य कितना समीचीन है आज के समय के साथ–''राजनीति धर्म की अनुचरी है। धर्महीन राजनीति को एक फाँसी ही समझा जाए, क्योंकि उससे आत्मा मर जाती है।'' (यंग इण्डिया, 03.04.1924, वाङ्मय खण्ड-23, पृ.-373)

गाँधी साहित्यकार नहीं थे, लेकिन साहित्यकारों के साहित्य-शोधक थे। साहित्य-विचार उनकी चिन्तना में प्रवाहित होते रहते थे, तभी तो उनके समय-काल के बहुतेरे साहित्यकार अपनी रचनात्मकता पर उनसे विचार-विमर्श किया करते थे। साहित्य का एक युग गाँधी के विचार-बोध का युग बन गया था। आज भी ऐसी

वृत्तियाँ देखने को मिल जाती हैं तो लगता है कि वह व्यक्ति नहीं, युग-बोध का कारक है। बहुत बार वह व्यक्ति अपने वचनों में, कथनों में काव्यमयी (Poetic) हो जाता है, ऐसी ही एक छवि उनके काशी प्रवास के समय उनके कथन से काव्यमयी होकर गंगा की तरह प्रवाहित होती है–''अरुणोदय और सूर्योदय का दृश्य सब स्थानों पर भव्य होता है, लेकिन गंगाजी के तट पर तो यह दृश्य मुझे नितान्त अद्भुत जान पड़ा। आकाश में जैसे-जैसे प्रकाश बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे गंगा के पानी पर स्वर्णिम प्रकाश बिखरता जाता है और अन्त में जब सूर्य पूर्णतः दृष्टिगोचर होता, उस समय ऐसा प्रतीत होता मानो पानी में एक बृहदाकार स्वर्ग स्तम्भ प्रतिष्ठाति कर दिया गया है। इस दृश्य को कितना भी देखें, आँखों को तृप्ति ही नहीं होती थी। इस भव्य-दृश्य को देखने के बाद सूर्य की उपासना, नदियों की महिमा के अर्थ को मैं अधिक अच्छी तरह समझ सका। इसी स्थान पर घूमते हुए मैंने अपने देश और अपने पुरखों के बारे में गर्व का अनुभव किया। (काशी, 16 फरवरी 1916, नवजीवन, 29.02.1920, वाङ्मय खण्ड-17, पृ. -62)

उक्त अंश के अवलोकन से नहीं लगता कि गाँधी कोई नेता, राजनीतिज्ञ और आन्दोलनकारी हैं। लगता है प्रकृति को काव्यमयी भाषा से अनुभूत करने वाला कोई सर्जक है, जिसकी अभिव्यक्ति की व्यंजना व्यंजित हुई है।

इसी तरह नैसर्गिक जीवन के प्रति गाँधी की 'पोएटिक' आश्रमवासियों के बहाने हम सबके लिए है–'आकाश को निहारने से आँखों को शान्ति मिलती है। आकाश में अवस्थित दिव्यगण मानो ईश्वर का स्मरण करा रहे हों। हम जब इस महादर्शन में तन्मय हो जाएँगे तब हमारे कान उसको सुनते जान पड़ेंगे। जिसकी आँखें हो, वह इस नित्य नवीन नृत्य को देखे। जिसके कान हों, वह इन अगणित गन्धर्वों का मूक गान सुने। मेरे लिए तो ये नक्षत्र ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिए साधन हो गये हैं। आश्रमवासियों के लिए भी हों। (पत्र, 11.04.1932, वाङ्मय खण्ड-49, पृ.-286)

विविध आयामी चिन्तन में गाँधी का दार्शनिक चिन्तन ज़्यादा प्रभावी है। उनका दार्शनिक चिन्तन व्यवहार-दर्शन का पर्याय है। इसलिए भी गाँधी दर्शन की प्रासंगिकता परम है। सत्य को लेकर उनकी अवधारणा परम है–'सत्य' शब्द 'सत्' से बना है। सत् अर्थात् होना। सत्य अर्थात् अस्तित्व। सत्य के सिवाय दूसरी किसी चीज़ की हस्ती नहीं। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् सत्य है। इसलिए ईश्वर सत्य है, ऐसा कहने के बदले 'सत्य ही ईश्वर' है, यह कहना ज़्यादा योग्य है। (पत्र, 22.07.1930, वाङ्मय खण्ड-44, पृ.-41)

सत्य का यह अद्भुत स्वरूप गाँधी की गवेषणा की ऊँचाई है, जो गाँधी के पहले किसी दार्शनिक का तात्त्विक विधान नहीं था। और यह कि मनुष्य मात्र ईश्वर का प्रतिनिधि है (वाङ्मय खण्ड-52, पृ.-5, भूमिका, नवम्बर 1932) तो ऐसी अवस्था

में नैतिक-कार्य ही सम्पादित होंगे, सत्य का पालन होगा, अहिंसा का व्यवहार होगा। मनुष्य यह समझ ले कि ईश्वर सबके अन्दर ही नहीं, मनुष्य मात्र ईश्वर का प्रतिनिधि है, गाँधी की रामराज्य की परिकल्पना साकार हो जाएगी। 'राम' भी मात्र ईश्वर के प्रतिनिधि ही थे। गाँधी जब कहते हैं कि हमारे अच्छे कार्य उतने ही सहज होने चाहिए, जितना सहज हमारी पलकों का उठना, गिरना। हमारी इच्छा किये बिना ही वे स्वतः उठती-गिरती रहती हैं। (माई डियर चाइल्ड, 06.09.1917, वाङ्मय खण्ड-13, पृ. -533) जीवन का सहज स्वरूप ही ईश्वरोचित है, तभी सहज की कसौटी पर कसा हुआ मन भी सार्थक होगा और पलकों की भाँति जीवन का गतिमान भी गतिशील रहेगा। यहाँ गाँधी साहित्य का दर्शनतत्त्व से साक्षात्कार कराते हैं।

आस्था, सहिष्णुता और सहजता गाँधी के जन्मजात गुण हैं। इस नयी मानवीय मूल्य-व्यवस्था से गाँधी परिपोषित थे, वरना मॉरित्सबर्ग स्टेशन पर उतार दिये जाने पर वे भारत लौट आये होते और सत्याग्रह का जन्म न होता। ईश्वरीय आस्था के सम्पोषक गाँधी विचलन से विशेष प्राप्त कर थिर हो जाते थे, यह उनकी आस्था की सफलता होती। यहाँ आस्था की आग लग गयी वहाँ इससे परे कुछ नहीं; क्योंकि ''आस्था तर्क से परे की चीज़ है। जब चारों ओर अँधेरा ही दिखाई पड़ता है और मनुष्य की बुद्धि काम करना बन्द कर देती है, उस समय आस्था की ज्योति प्रखर रूप से चमकती है और हमारी मदद को आती है। (यंग इण्डिया, 21.03.1929, वाङ्मय खण्ड-40 पृ.-65) यथा—

जब चारों तरफ़ अँधेरा हो, जीवन को मृत्यु ने घेरा हो।
जब एक किरण भी आशा की, आती ही नहीं नज़र

प्रार्थना जीवन की अद्‌भुत आस्था और अनुशासन है, प्रार्थना गाँधी के जीवन हेतु आस्था का प्राणतत्त्व है। गाँधी की यह आस्था की अनुभूति हर कालखण्ड में सफलीभूत हुई है एक दार्शनिककर्मचेता की तरह!

बड़ी प्रसिद्ध उक्ति है— पाप से घृणा करो पापी से नहीं। इस अर्थ-संदर्भ में गाँधी क्षमा-धर्म के अनुपालन पर अपनी आस्था और सहिष्णुता के आरोपण से सफलता का प्रतिमान अपने जीवन के अनेकानेक प्रसंगों में प्रतिष्ठापित करते हैं। एक पत्र में वे लिखते हैं, ''तात्विक दृष्टि से पाप का फल भोगना ही है। जो मनुष्य ज्ञानपूर्वक भोगता है, वह दोबारा पाप नहीं करता है कि शुद्ध हो जाता है, यही तो क्षमा है। मनुष्य क्षमा का आरोपण करके शुद्ध बन जाता है। (पत्र, 18.09.1935, वाङ्मय खण्ड-61, पृ. -464)

भ्रमवश और अज्ञानतावश बहुतेरे लोग भारत विभाजन को लेकर गाँधी पर दोषारोपण की बौछार करते रहते हैं, जबकि यह दोषारोपण बिलकुल निराधार है। विभाजन के पक्ष में गाँधी कभी नहीं थे। आज़ादी का समयकाल आते-आते गाँधी की

स्थिति साफ़ हो जाती है—''ईश्वर से यही प्रार्थना है कि विभाजन के साक्षी के रूप में मुझे जीवित न रखें।'' (वाङ्मय खण्ड-88, भूमिका, पृ.-5, मई 1947)

आज मैं अपने को अकेला पाता हूँ। लोगों को (सरदार और जवाहर) को ऐसा लगता है कि मैं जो सोच रहा हूँ, वह एक भूल है। मैं ज़िन्दा रहूँ लेकिन भविष्य में कभी हिन्दुस्तान की आज़ादी ख़तरे में पड़े तो यह बात याद रखना कि एक अनुभवी बूढ़े के लिए इस घाव को झेलना कितना कठिन था। हिन्दुस्तान की भावी पीढ़ी की आह मुझे न लगे कि हिन्दुस्तान के विभाजन में गाँधी ने भी साथ दिया था। (प्रार्थना सभा, दिल्ली, 01.06.1947, वाङ्मय खण्ड-88, पृ.-43)

यह जो पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान बना दिया गया है, उसके बारे में दिल में जो परेशानी है, वह मैंने वायसराय को सुना दी है। तब उन्होंने मुझे बताया कि यह अँग्रेज का किया हुआ नहीं है। कांग्रेस और लीग ने जो मिलकर माँगा है, वही दिया गया है। (प्रार्थना-प्रवचन, नई दिल्ली, 06.06.1947, वाङ्मय खण्ड-889, पृ.-79)

वाङ्मय के उपरोक्त वचनों से विभाजन सम्बन्धी भ्रम के बादल छँट जाते हैं तथा खुला आकाश स्पष्ट हो जाता है। अब इसके आगे कुछ कहने की ज़रूरत महसूस नहीं होती। यह इतिहास का तथ्य सत्य है। हम अपना दलीय लोभ-लाभ के आवरण में ऐतिहासिक तथ्य का पटाक्षेप करके दूसरे की अवहेलना अपने को सत्य साबित करने के लिए कर लेते हैं जो क्षणभाव है स्थायीभाव नहीं। यहीं कारण है कि हम अपने मूल्यों के अस्तित्व की तलाश में बराबर भटकते रहते हैं सत्य से मुँह छिपाकर! सच्चाई तो यह है कि आज हम गाँधी को भूल गये, गाँधी के गाँव को भूल गये, गाँधी के धैर्य को भूल गये, गाँधी की गवेषणा को भूल गये। यहीं तक नहीं, उनके सत्य की खोज में हमने असत्य खोज लिया उनकी अहिंसा की अवधारणा में हिंसा विकसित कर ली। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी की भूल रही, जिसकी बदौलत दिनानुदिन मूल्यों का ह्रास हुआ। गाँधी के मूल्यों पर यह देश चला होता, यह दुनिया चली होती तो आज मूल्य संकट इतने गहरे न होते। आज विश्व फिर से गाँधी की तलाश में अन्वेषी बना है, ताकि मुट्ठियों से आकाश निकल न जाए। आज ज़रूरत बन पड़ी है सम्पूर्ण व्यक्तित्व-विकास में गाँधी मूल्यों की स्थापना की। विकास तो हमने बहुत कर लिया है, विविधवर्णी और विविधआयामी विकास के शिखर की ओर बढ़ चले हैं; परन्तु कवि श्रीकान्त वर्मा की सर्जना में चिन्तित हैं गाँधी— *'पहुँच तो गया है/चाँद पर आदमी/पर/बहुत दूर है/आदमी से आदमी!'*

•

भारतीय सांस्कृतिक बहुलता और पूर्वोत्तर की भाषाएँ

डॉ. हितेन्द्र कुमार मिश्र*

भारत एक बहुलतावादी देश है, जो उसके विविध सन्दर्भों में पाया जाता है। भारत में यह बहुलता जितने अधिक क्षेत्रों एवं परिणाम में पाई जाती है, विश्व के शायद ही किसी देश में पाई जाती होगी। जाति, धर्म, भाषा, भूगोल, पर्यावरण, आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन खान-पान, पर्व-त्योहार, लोक-विश्वास, कद-काठी, नाक-नक्श, रंग-रूप प्रत्येक क्षेत्र में यह बहुलता सहज ही देखी जा सकती है। यह भारत ही है, जहाँ एक साथ इतनी ऋतुएँ पाई जाती हैं। एक ही दिन में इसका एक कोना गर्म तो दूसरा ठण्डा होता है। भारत की यह बहुलता उसका सौन्दर्य भी है और उसकी महानता का कारक भी। हमारा भारत वह उद्यान है, जहाँ विश्व की सर्वाधिक प्रजातियों के पुष्प पल्लवित और पुष्पित होते हैं।

भारत की इस बहुलता के केन्द्र में यहाँ की संस्कृति प्रमुख रूप से जिम्मेदार रही है, जो विश्व के दूसरे देशों से अलग है। सदियों से हमारे जीवन का विकास सहजीविता और सहधर्मिता के आधार पर हुआ है। सभ्यता के विकासक्रम में सदियों से हमारी इसी विशेषता ने हमें समृद्ध किया है। आज के समय में जनसंख्या का देश होने के बावजूद अगर बात की जाए तो स्पष्ट है कि हम विश्व के द्वितीय स्थानिक देश हैं। सबसे बड़ी जनसंख्या का देश होने के बावजूद चीन में भारत जैसी बहुलता नहीं है। इसका मूल कारण यहाँ की भौगोलिक स्थिति रही है। भारत में सदियों से अनेक बाहरी जातियों, समूहों का आगमन होता रहा है और अलग-अलग समय और कारणों से भारतभूमि पर आई हुई ये जातियाँ या समूह थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यहाँ के होकर रह गए। वर्तमान में ये सभी भारत के मूल नागरिक हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति पर अगर ध्यान दिया जाए, तो यह देश लगभग तीन दिशाओं से

* प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022

समुद्र से घिरा हुआ है और उत्तर का अधिकांश भाग पर्वत से आच्छादित है। सदियों पूर्व आवागमान का सुगम मार्ग स्थलमार्ग ही रहा है। इस कारण बाहर के देशों से भारत में आगमन का मार्ग अधिकांशतः पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त अथवा पूर्वोत्तर सीमा प्रान्त रहा है। इनमें भी पश्चिमोत्तर सीमा से आने वाले जनसमूहों का विस्तार मैदानी क्षेत्रों में सहजता एवं सरलता पूर्वक हुआ; लेकिन पूर्वोत्तर सीमा से आने वाले जनसमूहों के साथ ऐसा नहीं हुआ। इतिहासकारों की मानें तो भारत के आज के बहुलतावादी स्वरूप के निर्माण में अलग-अलग समय में लगभग अनेक जातीय समूहों का आगमन केवल भारत में अलग-अलग समयों में हुआ है। प्राचीनकाल से भारत में आने वाले इन प्रवासियों का समय लगभग 6000 ईसा पूर्व से 1000 ई. तक रहा है। इन जातीय समूहों में सबसे अन्तिम आगमन मुस्लिम समुदाय का रहा है। भारत में इस्लाम का आगमन सातवीं शताब्दी ईसवी[1] के आसपास बताया जाता है।

भारत में इन जातीय समूहों के आगमन के व्यापक कारणों में यहाँ की उपजाऊ जमीन और जलवायु के साथ-साथ यहाँ की संस्कृति में संस्कारतः सहजीविता और सहधर्मिता की भावना रही है। भारतीय सांस्कृतिक स्वरूप की यह मौलिकता है कि यहाँ के लोगों ने विजातीयता के कारण किसी जाति या समूह को बाहर जाने के लिए विवश नहीं किया। यहाँ तक कि सबसे अन्तिम समय में अंग्रेजी सत्ता का विस्थापन हुआ किन्तु उनका ईसाई समुदाय आज भी हमारे साथ समान अधिकार और सम्मान से भारतवासी है। हम सभी धर्मों एवं समुदायों के प्रति समान सम्मान एवं आदर करने के अभ्यस्त हैं। जाति, धर्म एवं भाषा के स्तर पर पाए जाने वाले वैविध्य के बावजूद भारत में सबके लिए समान सम्मान का भाव यहाँ के संस्कारों में व्याप्त है। भारतीय संस्कृति की यह संस्कारगत विशेषता उसके संविधान में भी सुरक्षित है। हमारे देश का संविधान देश में रहने वाले इन वैविध्यपूर्ण समूहों के जाति, धर्म भाषा को समान रूप से सम्मान प्रदान करता है। हमारे संविधान का अनुच्छेद 14-17 समानता, अनुच्छेद 19 अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, अनुच्छेद 21 स्वतन्त्रता, अनुच्छेद 25 धर्म की स्वतन्त्रता के लिए आश्वस्त करता है। संविधान के पूर्व एवं पश्चात् भारत के राजनीतिक स्वरूप में विविध धर्मों एवं समुदायों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार इसका वैशिष्ट्य है।

भारतीय बहुलता के परिप्रेक्ष्य में भारत के भाषाई स्वरूप को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। भाषा के स्तर पर ऐसी विविधता के मूल में भी उपरोक्त वर्णित कारण ही सर्वप्रमुख हैं। वस्तुतः भाषा वह माध्यम है, जिससे एक समाज विशेष के लोग आपस में विचार-व्यवहार करते हैं। एक समाज विशेष की इसकी सीमा ही इसमें वैविध्य की जननी है। समाज एक प्रकार के जीवन व्यवहार के लोगों का समूह होता है। और जब भारत में सदियों से अपने-अपने वैशिष्ट्य के साथ मानव समूहों का आगमन हुआ, तो यह वैविध्य समूह के साथ-साथ भाषिक स्तर पर भी होना

स्वाभाविक ही है। भाषा-वैज्ञानिकों ने व्यवहार के स्वरूप के आधार पर भाषा को राष्ट्रभाषा, राजभाषा, सम्पर्क भाषा, मातृभाषा जैसे भेदों में विभाजित किया है और व्यवहार की व्यापकता के आधार पर भाषा, विभाषा और बोली जैसे उपभेदों को निश्चित किया है। भाषा, विभाषा और बोली के विभाजन के बीच बड़ी सूक्ष्म विभाजक रेखा होती है। कभी-कभी भाषाओं ने अपने को समेटते हुए बोलियों का स्वरूप धारण किया है। यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं है कि व्यवहार के दायरे के अलावा भाषा, विभाषा और बोली में कोई अन्य स्थूल विभाजक रेखा नहीं होती। और सम्भवतः यहीं कारण है कि सर्वेक्षण कार्य करने वाले भाषाविदों को इनमें अन्तर कर पाने में सर्वथा कठिनाई हुई है। भारत के महत्त्वपूर्ण भाषा सर्वेक्षक जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन का मानना था कि ''सर्वेक्षण का कार्य करते समय यह निश्चित करने में कठिनाई पड़ी कि वास्तव में एक कथित भाषा स्वतन्त्र भाषा है, अथवा अन्य किसी भाषा की बोली है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार का निर्णय देना, जिसे सब लोग स्वीकार कर लेंगे; कठिन है। भाषा और बोली में प्रायः वही सम्बन्ध है, जो पहाड़ तथा पहाड़ी में है। यह निःसंकोच रूप से कहा जाता सकता है कि एवरेस्ट पहाड़ है और हालबर्न एक पहाड़ी; किन्तु इन दोनों के बीच विभाजक रेखा को निश्चित रूप से बताना कठिन है। ...सच तो यह है कि दो बोलियों अथवा भाषाओं में भेदीकरण केवल पारस्परिक वार्ता सम्बन्ध पर निर्भर नहीं करता। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सम्बन्ध में विचार करने के लिए अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है।''[2] राष्ट्र के स्तर पर भाषा, विभाषा और बोली सभी का समान महत्त्व और सम्मान है। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं और बोलियों में भेद निश्चित न किए जा सकने के कारण उनकी ठीक-ठीक संख्या का अनुमान कर पाना एक कठिन काम है। भाषा और बोली के बीच अन्तर का यदि ध्यान न दिया जाए, तो भारत में बोली जाने वाली भाषाओं की संख्या सत्रह सौ के आसपास अनुमानित की जाती है। भारत में व्यवहृत इन भाषाओं की व्युत्पत्ति अलग-अलग समय में अनेक भाषा समूहों से हुई है। विश्व में बोली जाने वाली भाषाओं के पारिवारिक विभाजन के आधार पर यह देखा जाता है कि भारत में विश्व के कुल पाँच प्रमुख भाषा परिवारों यथा– भारतीय आर्य, द्रविड़, आग्नेय, तिब्बती बर्मन और अण्डमानी की भाषाएँ बोली जाती हैं।

इन भाषा परिवारों में भारतीय आर्यभाषा परिवार बोलने वालों की संख्या के आधार पर सबसे बड़ा भाषा परिवार है। ''भारत में इस परिवार की लगभग 21 प्रमुख भाषाएँ–असमी, उड़िया, उर्दू, कश्मीरी, कोंकणी, खानदेशी, गुजराती, डोंगरी, नेपाली, पंजाबी, बंगाली, विष्णुपुरिया, भीली, मराठी, मैथिली, लहंदा, संस्कृत, सिंधी, शिना, हलाबी और हिन्दी बोली जाती हैं; जिनके बोलने वालों की संख्या का पूरी आबादी में 76.86 प्रतिशत है। इन भाषाओं में पन्द्रह भाषाएँ संविधान की आठवीं अनुसूची में भी

सम्मिलित हैं।''[3] इस समूह की कुछ भाषाएँ पूर्वोत्तर भारत में भी बोली जाती है; जिसमें असमी, बंगाली, विष्णुपुरिया, हिन्दी और नेपाली उल्लेखनीय हैं।

भारत में बोले जाने वाले भाषा परिवारों में दूसरा प्रमुख भाषा परिवार द्रविड़ है। ''इस भाषा परिवार के बोलने वालों की संख्या भारत की आबादी में 20.82 प्रतिशत है। इस परिवार से सम्बन्धित भारत में कुल सत्रह भाषाएँ बोली जाती हैं, जिसमें कन्नड़, मलयालम, तमिल और तेलुगु संविधान की आठवीं अनुसूची में भी सम्मिलित हैं। इस समूह की कोई भी भाषा पूर्वोत्तर भारत में नहीं बोली जाती। आग्नेय परिवार भारत में बोलने वालों की संख्या के आधार पर तीसरे स्थान पर है।

इसके भारत में बोलने वालों की संख्या 1.11 प्रतिशत है।'[4] इस परिवार की भाषा के मुख्यतः दो समूह भारत में प्रचलित हैं, वे ख्मेर निकोबारी और मुण्डा हैं। ख्मेर निकोबारी में मॉन-ख्मेर और निकोबारी दो समूह हैं। मॉन-ख्मेर समूह की एक मात्र भाषा– खासी पूर्वोत्तर भारत के मेघालय की प्रमुख भाषा है; तो निकोबारी अण्डमान में प्रचलित है। मुण्डा समूह की बारह भाषाएँ भारत में प्रचलित हैं, जिसमें संथाली को 2003 से संविधान के 92वें संशोधन के माध्यम से आठवीं अनुसूची में स्थान प्राप्त है। तिब्बती बर्मन परिवार के भाषाओं के बोलने वालों की संख्या भारत में अत्यल्प है, जो कुल आबादी का लगभग एक प्रतिशत है।[5] बोलने वालों की संख्या इस समूह की भले ही कम हो, किन्तु विविधता की दृष्टि से यह बहुत ही सम्पन्न समूह है। इसकी भाषाओं की संख्या 66 के आसपास है। इस समूह की तीन मुख्य शाखाएँ– तिब्बती हिमालयन, उत्तरी असम और असमी बर्तन है। भारत में बोली जाने वाली तिब्बती बर्मन समूह की सभी भाषाएँ पूर्वोत्तर भारत में बोली जाती हैं। इस समूह की दो भाषाएँ मणिपुरी और बोडो संविधान की आठवीं अनुसूची में भी शामिल हैं। भारत में बोले जाने वाले भाषा परिवारों में अण्डमानी परिवार की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। इस भाषा परिवार की भाषाओं के अनेक रूप अण्डमान निकोबार द्वीप समूह में प्रचलित हैं। इसके अलावा भारत में थाई समूह की भी एक भाषा खाम्पती बोली जाती है, जो अरुणाचल के एक विशिष्ट समूह द्वारा बोली जाती है। भारत की यह भाषाई बहुलता जनजातीय समूहों में भी पाई जाती है। इस जनजातीय समूहों में प्रायः अलग-अलग भाषाएँ बोली जाती हैं। ''भारत में जनजनतीय समूहों की संख्या 705 बताई जाती है।''[6] प्रायः प्रत्येक जनजाति अपने रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज़ की विशिष्टता के साथ-साथ भाषाई वैशिष्ट्य को लिए हुए हैं। बोलने वालों की संख्या के आधार पर ये चाहे छोटी या बड़ी कह दी जाए; उन्हें जनगणना में सम्मिलित न किया जाए; किन्तु महत्त्व की दृष्टि से सभी समान हैं।

भारत में निवास करने वाले जनजातीय समूहों में पूर्वोत्तर भारत में जनजातियों की बहुलता पाई जाती है और इसीलिए भाषा में भी इस बहुलता के दर्शन होते हैं।

पूर्वोत्तर भारत में भारत के आठ राज्यों को सम्मिलित किया जाता है। ये राज्य असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा और सिक्किम हैं। जिन्हें पारिवारिक रूप से सात बहनें और सिक्किम को भाई के रूप में गिना जाता है। लेकिन, केवल इन राज्यों मात्र से पूर्वोत्तर नहीं बनता। सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक रूप से देखा जाए, तो इसमें उत्तर बंगाल के दार्जिलिंग, सिलीगुड़ी और कूचबिहार को सम्मिलित किया जाना श्रेयष्कर है। इस प्रकार सीमांकित पूर्वोत्तर भारत में बोली जाने वाली भाषाओं पर ध्यान दिया जाए, तो यहाँ मूल रूप से मुख्यतः आग्नेय और तिब्बती बर्मन परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें भी मेघालय की खासी मात्र पूर्वोत्तर भारत में आग्नेय परिवार की भाषा है। अरुणाचल की खाम्पती थाई भाषा परिवार से सम्बन्ध रखती है। इसके अलावा अधिकांश भाषाएँ तिब्बती बर्मन परिवार की भाषाएँ हैं। पूर्वोत्तर भारत के जनजातीय समूहों की यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि ये भारतीयता के साथ-साथ अपनी मौलिकता के प्रति विशेष सजग दिखाई देते हैं। भारत के अन्य क्षेत्रों में निवास करने वाली जनजातियों पर भाषाई बहुलता के दबाव (सामाजिक और सांस्कृतिक) अधिक हैं। कारण यह है कि उन क्षेत्रों में जनसंख्या के आधार पर वे समूह अल्पसंख्यक हैं और रोज़ी-रोज़गार के कारण दूसरी भाषा का दबाव उन पर अधिक है। किन्तु, पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों के साथ ऐसा नहीं है। यहाँ के राज्यों में निवास करने वाले इन जनजातीय समूहों की आबादी बहुसंख्यक है। इसलिए इन समूहों पर रोजी-रोजगार सम्बन्धी वैसा दबाव नहीं हैं, जैसा देश के अन्य क्षेत्रों में है। यहाँ बहुभाषिकता का कारण आपसी सम्पर्क और राष्ट्र के साथ सम्माजनक सम्बन्ध स्थापन है। यहाँ भाषाई बहुभाषिकता का दबाव न होते हुए भी भारत की दूसरी भाषाओं के साथ इनके संपर्क आदर्श स्थिति में हैं। इसे और स्पष्ट करने के लिए पूर्वोत्तर में प्रचलित भाषाओं की राज्यवार स्थिति के आँकड़ों को देखा जा सकता है।

जनसंख्या की दृष्टि से असम पूर्वोत्तर भारत का सबसे बड़ा राज्य है। जनसंख्या के आधार पर असम भारत का पंद्रहवाँ राज्य है, जो क्षेत्रफल की दृष्टि से स्काटलैण्ट के बराबर है। सन् 2001 ई. की जनगणना के अनुसार यहाँ 48.8 प्रतिशत असमिया तो 27.5 प्रतिशत बंगला भाषी निवास करते हैं। शेष 5.88 प्रतिशत हिंदी, 4.8 प्रतिशत बोडो, 2.12 प्रतिशत नेपाली के साथ 11.8 प्रतिशत अन्य भाषा भाषियों का हिस्सा इस राज्य में निवास करता है। जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर-भारत में त्रिपुरा दूसरे स्थान पर है, तो भारतीय स्तर पर 22वाँ राज्य है। इस राज्य में त्रिपुरी बोलने वालों की संख्या 25.46. प्रतिशत है, तो बांग्ला भाषियों का अनुपात 67.14 प्रतिशत है। यहाँ हिन्दी भाषियों की संख्या 1.68 प्रतिशत, तो कूकी भाषा-भाषियों की संख्या 1.2 प्रतिशत के बराबर है। जनसंख्या के आधार पर मेघालय पूर्वोत्तर के राज्यों में तीसरे स्थान पर और भारत का 23वाँ राज्य है। इस राज्य की मुख्य भाषा खासी, गारो

और जयंतिया है, जो यहाँ की पहाड़ियों, और जनजातीय समूहों के नाम भी हैं। मेघायल में बोलने वालों की संख्या के आधार पर देखें, तो खासी 33.82 प्रतिशत, गारो 31.6 प्रतिशत, पनार 10.69 प्रतिशत, बंगाली 6.44 प्रतिशत, नेपाली 1.73 प्रतिशत, हिन्दी 1.62 प्रतिशत, हाजोंग 1.4 प्रतिशत, असमी 1.34 प्रतिशत और अन्य 9.51 प्रतिशत हैं। इसी प्रकार जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का चौथा राज्य मणिपुर है; जो इसी आधार पर भारत का 24वाँ राज्य है। इस राज्य में गैर-जनजातीय भाषा का दबाव बहुत कम है। मैतेई यहाँ की प्रमुख भाषा है, जिसके बोलने वालों की संख्या यहाँ की आबादी में 53 प्रतिशत है। इस राज्य में बंगला और हिन्दी भाषियों का अनुपात 1.25 और 1.14 प्रतिशत है। नागालैण्ड जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का पाचवाँ और भारत का पच्चीसवाँ राज्य है। इस राज्य में भी ग़ैर-जनजातीय भाषाओं का दबाव अत्यल्प है। यहाँ कोन्याक, लोथा, अंगामी, आओ, चोकरी, चांग आदि भाषा-भाषियों का अनुपात गैर जनजातीय भाषा-भाषियों से अधिक है। बंगला भाषी 3.77 तो हिन्दी भाषी 3.13 प्रतिशत हैं। अरुणाचल प्रदेश जनसंख्या के आधार पर पूर्वोत्तर का छठवाँ तो भारत का सत्ताइसवाँ राज्य है। क्षेत्रफल के आधार पर यह राज्य पूर्वोत्तर का पहला तो भारत का पन्द्रहवों राज्य है। भाषाई रूप से भी राज्य पूर्वोतर का अत्यन्त उर्वर राज्य है। यहाँ पचास के आसपास प्रमुख जनजातियाँ और उनकी भाषाएँ विद्यमान हैं। इस राज्य को भाषाई बहुलता में एशिया में प्रथम स्थान प्राप्त है। इस राज्य में निशी, आदी, मोम्पा, वांगचू, तांग्सा, मिश्मी, मिसिंग, नोक्ते के साथ-साथ असमी, बंगला, नेपाली और हिन्दी भाषियों की भी अच्छी संख्या विद्यमान है। जनसंख्या के आधार पर भारत का अट्ठाइसवाँ और पूर्वोत्तर का सातवाँ राज्य मिजोरम भी जनजातीय समूहों और जनजातीय भाषाओं की दृष्टि से अल्पसंख्यक नहीं है। गैर-जनजातीय भाषा-भाषियों की संख्या यहाँ अत्यल्प या नहीं के बराबर है। इस राज्य में मिजो भाषी समुदाय प्रान्त का सत्तर प्रतिशत से अधिक है। शेष समुदायों द्वारा प्रमुख रूप से चकमा, मारा, ताई, कूकी, त्रिपुरी, हमार पाइते आदि जनजातीय भाषाएँ बोली जाती हैं। जनसंख्या के आधार पर सिक्किम भारत और पूर्वोत्तर का सबसे छोटा राज्य है। इस राज्य में भारतीय-आर्य, आग्नेय, तिब्बती-बर्मन, तीनों भाषा-परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। यहाँ नेपाली 62.6 प्रतिशत, भूटिया 7.6 प्रतिशत, हिन्दी 6.6 प्रतिशत, लेप्पचा 6. 5 प्रतिशत, लिम्बू 6.3 प्रतिशत, शेरपा 2.4 प्रतिशत, तमांग 1.8 प्रतिशत तथा 6.2 प्रतिशत अन्य भाषा-भाषी रहते हैं।

पूर्वोत्तर भारत के भाषाई परिदृश्य को देखने से जो मूल बातें निकलकर सामने आती हैं, वे इस प्रकार हैं–

1. भारत में भाषाई वैविध्य की दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत सर्वाधिक सम्पन्न है।
2. पूर्वोत्तर की यह भाषाई बहुलता उसे वैश्विक स्पर पर अप्रतिम बनाती है।

3. भाषाई वैविध्य के बावजूद सामाजिक, सांस्कृतिक सौहार्द में कोई समस्या नहीं है।
4. भाषाई वैविध्य के बावजूद बहुभाषिता का दबाव मैदानी क्षेत्रों जैसा नहीं है, जहाँ छोटी भाषाएँ अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रही हैं।

उपरोक्त तथ्यों को लेकर जब विचार करते हैं; तो यह बात विचारणीय है कि राष्ट्रीय या क्षेत्रीय स्तर पर इनके अंतःसम्बन्ध का स्वरूप क्या है? इस ओर जब ध्यान देते हैं तो 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और जनपदीय बोलियाँ' शीर्षक लेख में प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय जी का वक्तव्य महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि ''वस्तुतः भाषाओं की एकता का आधार केवल व्याकरण नहीं है। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं राजनीतिक कारणों से भी भाषाई एकता होती है। ये ही कारण बिखराव के लिए भी उत्तरदायी हैं।''[7] प्रान्तों की सीमाएँ राजनीतिक होती है। राजनीतिक सीमाओं के आर-पार रहने वाले लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक सम्बन्धों में कोई अलगाव नहीं होता। हम सभी अपनी क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ राष्ट्रीय चरित्र सहधर्मिता और सहजीविता के कारण विविधता में एकता को स्थापित करते हैं। मूल रूप से हम चाहे जिस जातीय समूह से सम्बन्ध रखते हों, किन्तु भारत की आबोहवा में विकसित होने के कारण भारतीय है।

पूर्वोत्तर के समुदायों में रहन-सहन, रीति-रिवाज, भाषा-बोली में वैविध्य होने के बावजूद भारतीयता के सूत्र उसी प्रकार देखे जा सकते हैं। आज पूर्वोत्तर भारत के अधिकांश भाषाओं के साथ राष्ट्रीय स्तर पर सर्वाधिक बोली समझी जाने वाली सम्पर्क-भाषा हिन्दी का सम्बन्ध उसी प्रकार है। अधिकांश भाषाओं में हिन्दी के शब्द और हिन्दी में इनके शब्दों का प्रवेश हो रहा है। एक प्रकार से कहा जाए, तो भाषा की नई शैलियों का विकास हो रहा है।

भाषा में सतत विकास की प्रक्रिया चलती रहती। इसीलिए प्रत्येक युग में व्यवहार की भाषा मानक भाषा-से थोड़ा बहुत विचलन लिए हुए होती है। पूर्वोत्तर की भाषाओं में भी सहजीविता और सहधर्मिता के कारण ही हिन्दी शब्दों का प्रवेश दिखाई देता है। 2011 की जनगणना में हिन्दी के अन्तर्गत आने वाले भाषाओं की संख्या 49 गिनाई गई है। जिसे ध्यान में रखते हुए उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि एक दिन ऐसा आएगा, जब हिन्दी की 200 भाषाएँ होगी। और यह केवल भाषा ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति की मूल प्रवृत्ति है। 'सब पलें—सब बढ़ें' की भावना के साथ सबको सम्मान और अधिकार भारतीय बहुलतावादी संस्कृति का मूल आधार है।

●

संदर्भ

1 Trade, not invasion brought lslam to India'-Times of India, The Times of India. Retrieved 2017-07-28
2 अरुणागम, संयुक्तांक 15-16, में 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और जनपदीय बोलियाँ' शीर्षक प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय का लेख, पृ.06
3 Census 2001, Statement 9
4 Census 2001, Statement9
5 Census 2001, Statement9
6 Scheduled Tribes in India, As revealed in census 2011, Dr. C.Chandramouli, Page-03
7 अरुणागम, संयुक्तांक 15-16, में 'राष्ट्रभाषा हिन्दी और जनपदीय बोलियाँ' शीर्षक प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय का लेख, पृ.08

असमिया शब्द निर्माण में विविध जनजातियों का योगदान

दिगंत बोरा*

सारांश : मानव सभ्यता का इतिहास प्रवजन का इतिहास है। प्रवजन से मानव सभ्यता और संस्कृत में समन्वय हुआ है। इसी प्रवजन के कारण ही असमिया समाज और संस्कृति के साथ-साथ भाषा पर भी विविध जाति-जनजातियों का प्रभाव देखने को मिलती है। असमिया शब्द गठन में समय-समय पर आए हुए विविध, जनजातियों का प्रभाव देखने को मिलती है। जिनमें कछारी, आहोम, मिचिंग, मिचिमी, खाम्टी, नगा, नरा, मान, चुतिया आदि। इन जनजातियों से बहुत से शब्द असमिया भाषा में आई है। जैसे—मानधपात, मान कचु मान लोगों के प्रभाव से आया है। उसी प्रकार भोट जलकिया, भोट लाई भूट लोगों के प्रभाव से आया है।

बीज शब्द : असम, असमिया, भाषा, शब्द, जाति, जनजाति, संस्कृति, समाज, प्रवजन, सभ्यता, निर्माण, सामग्री, इतिहास, शब्द-भंडार, कृषिजात, लोग आदि।

प्रस्तावना :

मानव सभ्यता का इतिहास प्रवजन का इतिहास है। आदिम काल से प्रवजन के कारण ही मानव सभ्यता-संस्कृति का एक मिला-जुला रूप देखने को मिलता है। प्रवजन से समाज के साथ ही भाषा के शब्द भंडार पर भी प्रभाव पड़ता है। एक जाति एक जगह दूसरी जगह जाते वक्त अपने साथ अपने भाषा-संस्कृति के साथ-साथ नित्य व्यवहार्य सामग्री भी ले जाती है। इसी तरह नई जाति अपने साथ जो सामग्री ले आती है, उसे उस जगह की पुरानी जाति नई जाति के आधार पर नामकरण करती है। इस तरह जाति के प्रवजन से समाज-संस्कृति के साथ-साथ भाषा पर भी प्रभाव पड़ता है।

* शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश

असमिया शब्द निर्माण में विविध जनजातियों का योगदान :

असम में भी अनेक समय में अनेक जाति-जनजाति आकर रहने लगी थी। इस तरह नई जाति अपने साथ अपने भाषा-संस्कृति के साथ-साथ अपनी व्यवहार्य सामग्री भी ले आई थी; जिसे असम के निवासी उसी जाति के नाम के आधार पर नामकरण किया है। तैरहवीं शताब्दी में पाटकाई पर्वत के उस पार से असम में आहोम, (अहोम) जाति आई थी, जो अपने साथ अपनी भाषा-संस्कृति-परंपरा और नित्य उपयोगी सामग्री भी ले आई थी। आहोम अपने साथ जो भी सामग्री लाई थी, उन सामग्रियों असम के निवासी आहोम जाति के आधार पर ही नामकरण किया है। परन्तु इन सभी वस्तुओं में से केवल दो कृषिजात सामग्रियों के नाम और एक बीमार के नाम पर आहोम जाति का प्रभाव देखा जा सकता है। जैसे—आहोम बगरी[1], आहोम शालि[2], आहोम घाव[3] आदि। इसके अतिरिक्त आहोम आठा[4] नाम के एक आठा भी मिलता है। पहले आहोम आठा की खेती की जाती थी। आहोम आठा की खेत करनेवाले लोगों ने दिहिंगिया रजा[5] को आहोम आठा के आठ पौधे उपहार स्वरूप भेंट किए हैं। इन आठ आहोम आठा के पौधे को जहाँ पर लगाया गया, उस जगह को आठाबारी[6] कहा जाता है। आहोम लोगों की गढ़[7] से आहोम गढ़[8], नाक से आहोम नका[9] आदि शब्दों का निर्माण हुआ है। इसके अतिरिक्त आहोम लोगों को लेकर असमिया भाषा में अनेक लोकोक्ति, मुहावरा, प्रवचन भी प्रचलित हैं। जैसे—'आहोमर तले पुतल, आहोम भेलेंगा'[10], 'आहोमनीर कापोर'[11], 'आहोमर दिन'[12], 'आहोमर टोपोला'[13] आदि।

असम के चारों ओर पर्वत-पहाड़ हैं। इन पर्वत-पहाड़ों पर रहने वाले लोगों को असम के लोग नगा कहते थे। नगा लोगों के साथ असम के लोगों का व्यापार वाणिज्य के साथ-साथ एक अच्छे सम्बन्ध भी बन गये थे। जिससे नगा संस्कृति के साथ-साथ नगा भाषा ने भी असम के संस्कृति और भाषा को प्रभावित किया था। नगा लोगों से जो भी सामग्री असम के लोग खरीदते थे, उसे असम के लोग नगा शब्द युक्त करके एक नया नाम देते थे। इस तरह के अनेक शब्द असमिया भाषा में देखने को मिलते हैं। कुछ कृषिजात सामग्री के नाम हैं— नगाकचु[14], नगामाह[15], नगाचकला[16], नगापाण[17] आदि। इसके अतिरिक्त नगाजेनेरू[18], नगाजापि[19], नगामाको[20] आदि वस्तु के नाम, स्वभाव और प्रकृति से नगामता[21], नगाकटा[22], नगाकबेचा[23], नगार चांग तले बाट[24] आदि खंडवाक्य, 'नगार निर्मालि ल बोले'[25], 'होरोते थ'[26], 'नगाटो चाइ होराटो'[27], 'सजालो परालो नगाई निले बुलि'[28], 'नगायों निनिले माज डांगरी बुलि'[29] आदि प्रवचन भी नगा जनजातियों के प्रभाव से असमिया भाषा में आया है।

मिरि[30] जनजातियों का प्रभाव भी असमिया भाषा के शब्द भंडार पर दिखाई देता है। मिरि जाति के प्रभाव से कृषिजात सामग्रियों में मिरि आलू[31], मिरिका टेंगा[32],

तथा मिरि जिम[33] आदि शब्द आए हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मिरि जिम असमिया समाज में मिरि जनजाति से सम्पर्क में आने से पहले ही प्राप्त होता है, परन्तु मिरि जनजातियों के प्रभाव से असमिया समाज भी जिम को मिरि जिम ही कहते हैं।

शदिया[34] के आसपास शासन करने वाले चुटिया[35] जाति का प्रभाव भी असमिया शब्द भंडार पर दिखाई देता है। चुटिया धनु[37], चुटिया शालिका[38], चुटिया कारी[39] आदि।

गौड़ देश से आने वाले लोगों को असम के लोग गरिया कहते हैं। इस जाति का प्रभाव भी असमिया शब्द भंडार पर दिखाई देता है। गरिया आलू[40], गरिया खोदाई[41] ये दोनों शब्द इस जाति के प्रभाव से असमिया भाषा में आई हैं। गरिया शब्दयुक्त एक प्रवचन भी असमिया भाषा में प्रचलित है– 'गुरु हल गरिया, पो हल चार, जी हल नटिनी, उपाय मोर नाइ'[42]। कछारी[43] जनजाति के प्रभाव भी असमिया शब्द भंडार पर देखने को मिलता है। जैसे कछारी शालि[44], कछारी मोर[45] आदि। मिचिमि लोगों के प्रभाव से मिचिमि तिता[46], मिकिर पूरा[47], मेचि दा[48] आदि चिंफो लोगों के प्रभाव से चिंफो नांगल[49], चिंफो मोना[50] आदि, खाम्टी लोगों के प्रभाव से खाम्टी दा[51], खाम्टी मोना[52], खाम्टी शालि[53], मराण लोगों के प्रभाव से मराण आदा[54] आदि शब्द आए हैं।

ब्रह्मम के टाइशान राज्य को असम के लोग नरा राज्य और वहाँ के लोगों को नरा कहते थे। नरा राज्य की लोगों के साथ असम के लोगों का व्यापार-वाणिज्य के साथ-साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी बन गये थे। जिससे असम की संस्कृति के साथ-साथ असमिया भाषा पर भी उन लोगों का प्रभाव देखने को मिलता है। असमिया शब्द भंडार पर नए शब्द-युक्त अनेक शब्द मिलते हैं। जैसे– नरा बगरी[55], नरा कापोर[56], नरा तगर[57], नरा चोला[58], नरा जाफाइ[59] आदि। इसी प्रकार मान लोगों के प्रभाव से मान धपात[60], मानकचु[61], मान जलकिया[62], मान धनिया[63], मान लाइ[64] आदि। इसी प्रकार चीन के प्रभाव से चीना आलू[65], चीना लाई[66], चीना बादाम[67], चीना हाँह[68] आदि। भोट लोगों के प्रभाव से भोट जलकिया[69], भोट एरा[70], भोट लाई[71], भोटिया कुकुर[72] आदि।

प्राचीन असमिया भाषा में बंगाल शब्द विदेशियों के लिए प्रयोग होता था। मुगल, पठान आदि को असम के लोग बंगाल कहते थे; यहाँ तक कि अंग्रेजों को बगा बंगाल[73] कहते थे। इसलिए असमिया भाषा पश्चिम के प्रभाव से असम में आने वाले बहुत-सी वस्तुओं में बंगाल शब्द युक्त है। जैसे–बंगाली एरा[74], बंगाली बगरी[75], बंगाली-मधुरि[76], बंगाली मालभोग[77], बंगाली पूरा[78], बंगाली जिका[70] आदि।

निष्कर्ष : असमिया भाषा के जातिगत नामों से बनने वाले शब्दों से असम और दूसरे राज्य के बीच सांस्कृतिक विनिमय का आभास मिलता है। इस तरह से

विविध जाति-जनजातियों के प्रभाव से असमिया भाषा में विविध शब्दों का आगमन हुआ है। इन शब्दों से असमिया भाषा के शब्द भंडार मजबूत हुआ है और असमिया भाषा के ग्रहण क्षमता का पता चलता है। असमिया भाषा में इन जनजातियों के प्रभाव से शब्दों का आगमन हुआ है, जिससे भाषा मजबूत होने के साथ-साथ विकसित भी हुई है।

●

संदर्भ

1. बेर का एक प्रकार
2. धान के एक प्रकार
3. घाव, जो जल्दी ठीक नहीं होता है
4. मॉम
5. दिहिंगिया वंश के राजा
6. एक जगह, जो डिबुगढ़ में है
7. चेहरा
8. आहोम लोगों की तरह चेहरा
9. आहोम लोगों की तरह नाक
10. आहोम लोगों की तरह सहज-सरल
11. कीमती कपड़ा
12. अच्छे दिन
13. कीमती और अच्छे सामान
14. आलू का एक प्रकार
15. मूँग की तरह दाल
16. कैले के पौधे
17. पान के एक प्रकार
18. गले में पहनने वाला एक आभूषण
19. खेत में हल जोतते समय पहनने वाली टोपी से बड़ा एक सामान
20. कपड़ा बुनने में व्यवहार किया जाता है
21. नगा पुरुष
22. नगा लोगों की तरह किसी चीज को काटना
23. नगा लोगों को बेच देना
24. नगा लोगों के मचान घर होते हैं, जिस कारण से उन लोगों के घर के नीचे से रास्ता होता है

25. बिना नहाए आ जाना
26. पास ही रख लेना
27. व्यक्ति अनुसार थैला
28. अपने लिए बनाया गया सामान कोई दूसरा व्यक्ति ले जाना
29. कुरूप
30. असम की एक जनजाति
31. आलू के प्रकार, जो बालू में अच्छे होते हैं
32. मिरिका बेर से बड़ा एक फल, जो खट्टा होता है
33. मिरि लोगों के कपड़े
34. असम की एक जगह जो तीनचुकिया में है
35. असम की एक जाति
36. लफा एक शाक है
37. चुतिया लोगों के धनुष
38. एक पक्षी जो तोते की तरह बात कर सकता है
39. असम की एक जगह, जो लखिमपुर में है
40. आलू के एक प्रकार
41. एक कीड़ा
42. उस पिता के पास कोई भी उपाय नहीं होते हैं, जिनके सारे परिवार के सदस्य राह भटक गए हैं
43. असम की एक जनजाति
44. धान के एक प्रकार
45. समझ में न आना
46. एक औषधीय पौधा
47. गन्ना
48. दाव के एक प्रकार, जो लम्बा होता है
49. हल जोतने के लिए व्यवहार किया जाता है
50. थैला
51. दाव के एक प्रकार जो पतला होता है और आगे की ओर फैला हुआ
52. थैला
53. धान का एक प्रकार
54. अढरक का एक प्रकार, जो भीतर से स्याही की तरह होता है
55. बेर एक प्रकार, जो पकने पर लाल हो जाता है
56. पहनने एक कपड़ा
57. फूल
58. पुरुष की कपड़ा

59. कानफूल
60. तम्बाकू के पत्ते
61. आलू के एक प्रकार
62. मिर्च के प्रकार, जो बड़ा होता है
63. धनिया के प्रकार
64. लाई के एक प्रकार जिसके पत्ते बड़े-बड़े होते हैं
65. आलू के एक प्रकार
66. लाई का एक प्रकार, जो सफेद और जिसके पत्ते बड़े-बड़े होते हैं
67. बादाम
68. हंस के प्रकार, जिसके माथे पर फूल होता
69. मिर्चा के प्रकार, जो बड़ा होता
70. एक पौधा, जिसका पत्ता एड़ी नाम के एक कीड़े को खिलाया जाता है, एड़ी कीड़े से निकलने वाले सूस से एड़िया चादर बनाई जाती है; जिसे ठंड के मौसम में ओढ़ा जाता है।
71. लाई के एक प्रकार
72. कुत्ते के प्रकार, जिसका मुँह दूसरे कुत्ते से अलग और छोटा होता है।
73. बंगाली जो पश्चिम बंगाल में रहते हैं। असम में पहले विदेशियों को बंगाल कहा जाता था।
74. एक पौधा, जिसका पत्ता एड़ी नामक कीड़े को खिलाया जाता है, जिसके पत्ते का रंग कॉफी की तरह होता है।
75. बेर के प्रकार
76. अमरूद के प्रकार
77. केले का एक प्रकार, जो खाने बहुत में स्वादिष्ट होता है
78. गन्ने का प्रकार, जो मोटा और लम्बा होता है; जो दूसरे गन्ने से कोमल होता है
79. भिंडी

भूमंडलीकरण, हिन्दी साहित्य और सामाजिक परिदृश्य

हुस्न तबस्सुम 'निहाँ'*

भूमंडलीकरण, अर्थात् वैश्वीकरण। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण की एक घोर आँधी-सी चल पड़ी है। सारा परिवेश भूमंडलीकृत हो चला है। चाहे आम समाज हो, हमारी सभ्यता हो अथवा हमारी अपनी ही संस्कृति। इसका प्रभाव हर कहीं झलकने लगा है। वो चाहे राजनीतिक हो, सामाजिक हो अथवा आर्थिक। आज का पूरा पारिदृश्य भूमंडलीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के नए उपादानों से घिरा पड़ा है। इस नए पारिदृश्य ने सूचना व क्रान्ति के सहयोग से पूरी दुनिया को एक गाँव में विलय कर दिया है। वास्तव में इंटरनेट ने पूरी दुनिया को एक छोर से दूसरे छोर तक इस कदर जोड़ दिया है कि अब भौगोलिक फासलों का कोई मतलब नहीं रहा। इससे सभ्यताओं के बीच सरोकार जुड़े हैं, तथा संवादों में भी पैनापन और पारदर्शिता आई है। भारतीय परिवेश भी इससे अछूता नहीं रहा है। बात जब भारतीयता की आती है, तो सबसे पहले नजर भारतीय संस्कृति व सभ्यता से समृद्ध भारतीय साहित्य पर जाती है। निःसन्देह, साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। कुछ विद्वान अगर इस बात पर अडिग हैं कि हिन्दी साहित्य पर भूमंडलीकरण का गहरा व सकारात्मक प्रभाव पड़ा है, तो कुछ का ये भी मानना है कि इससे हिन्दी साहित्य का बुरी तरह से ह्रास हुआ है। वरिष्ठ साहित्यकार पुरुषोत्तम अग्रवाल का मानना है कि ''भूमंडलीकरण ने हिन्दी को बाजार तो दिया है, लेकिन वह बाजार में सिर्फ विज्ञापन की भाषा होकर रह जा रहा है। साहित्य व संस्कृति की भाषा के रूप में जो हिन्दी थी, उसकी सम्भावनाओं और क्षमता को इस भूमंडलीकरण के बाजार ने मारा है। इससे हिन्दी साहित्य हाशिये पर पहुँचता जा रहा है। बाजार की संस्कृति अब भारत के छोटे-छोटे शहर व गाँवों तक बुरी तरह हावी हो गई है।'' वरिष्ठ पत्रकार राहुल देव का कहना है कि ''हिन्दी का

* म.गां.अं. हिन्दी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, मो. 09415778595

लेखक कृत्रिमता की नब्ज पकड़ने के बजाय महान् साहित्य रचना चाहता है। जब वह इस ग्रंथि से आजाद हो जाएगा कि वह कुछ अलहदा नहीं रच सकता और उन संवेदनाओं को पकड़ने लगेगा, जो आज के जीवन की सच्चाई है, तो शायद ऐसी चीज लिखी जा सकेगी, जिसे बड़े पैमाने पर पाठक पढ़ेंगे। हिन्दी में क्षमता कम है, मैं ऐसा नहीं मानता।''

भूमंडलीकरण, यानी अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं का अन्त। जब मैकाले ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत की थी, तब भूमंडलीकरण का प्रश्न नहीं था। अंग्रेजी सत्ता हमें विश्व-नागरिक बनाने के लिए अंग्रेजी नहीं पढ़ा रही थी। उपनिवेश दौर में उन्हें अंग्रेजी पढ़े-लिखे कारिन्दे चाहिए थे। आज भारत की अंग्रेजी हमें अपने ही देश में व्यक्तित्व विहीन बनाती है। साथ ही बाजार में विश्व नागरिक भी बनाती है।

किंतु सवाल जब राष्ट्रीयता का आता है, तो अंग्रेजी के कारण हमारा सम्पर्क और सम्बन्ध अपने ही देश के अशिक्षित वर्ग से टूट जाता है। यही नहीं, भारतीय भाषाओं में हमारी सोचों का प्राकृतिक प्रवाह बाधित होता है। हम स्वयं अपने सांस्कृतिक स्रोतों, आस्था के प्रतीकों अपने आस-पास की संवेदनाजन्य ध्वनियों और अपने जन मानस से कटकर रह जाते हैं।

वास्तव में भूमंडलीकरण लगातार हमारी संस्कृति का ह्रास कर रहा है। हमारी मान्यताओं तथा परम्पराओं को तोड़ने का प्रयास कर रहा है। इसका दुष्परिणाम यह है कि आज के बच्चे जानते ही नहीं हैं कि अनाज कहाँ उगता है? खेत कैसे लहलहाते हैं? फूल क्यों खिलते हैं? चम्पा क्यों महकता है? चाँद भी सुन्दर होता है। अब कविताओं में सौन्दर्य नहीं ग्लोबल की व्याख्या की जाती है। इस हाईटेक संस्कृति से हिन्दी साहित्य सहमा-सा है। आज हम अपने मौसमों, बादलों, लहरों, द्वीपों, रंगों, हवाओं, सागरों, छवियों, दृश्यों, भावनाओं, मूल्यों, संवेदनाओं से इस कदर कटकर रह गए हैं कि ये शब्द अब न हमें वेदित करते हैं न संवेदित करते हैं। यह शब्द हमारी आस्थाओं से बहुत दूर जा चुके हैं। ये हमें उद्वेलित नहीं करते। भूमंडलीकरण ने हमें अपने व्यक्तिगत और आन्तरिक सौन्दर्य से विमुख किया है। या कि हम खुद वही नहीं रह गए हैं, जो हमें होना चाहिए था। हम अपने दायरों में और संगोष्ठी व सेमिनारों तक ही महदूद रह गए हैं। अपनी पहचान व मौलिकता से चूक गए हैं हम। इस भूमंडलीकरण ने हमें त्रासदी दी है। वास्तव में बाजारवाद की गलाकाट प्रतिस्पर्धा और मुनाफे की हत्यारी संस्कृति हमें सिर्फ यही दे सकती है। जिन गाँवों में पेयजल का ठिकाना नहीं, वहाँ कोक और पेप्सी प्रतिस्पर्धा में है। वास्तव में हम एक बंजर होती संस्कृति में विलय हो गए हैं और उसी में रच-बस गए हैं। इस मुनाफाखोर परिवेश में साहित्य की क्या हैसियत हो सकती है? बाजारवाद आज पूरी तरह साहित्य व संस्कृति पर हावी हो चुका है। मार्केट में कास्मेटिक के इतने रंग हैं कि अचम्भा होता है।

अलग-अलग समय पर अलग-अलग उपयोग के लिए साबुन, लिपिस्टिक, नेलपॉलिश, इत्यादि प्रसाधन। इसी से त्रस्त होकर एक बार आइंस्टीन ने कहा था– ''समझ में नहीं आता कि इतने तरह के साबुनों की जरूरत क्या है? जिससे शेव किया जाता है, उससे हाथ क्यूँ नहीं धुल सकते? नहाया क्यूँ नहीं जा सकता?''

भूमंडलीकरण इसी झुंझलाहट और उक्ताहट का एक स्वरूप है। शायद यही कारण है कि हमारा विपन्न वर्ग इस कृत्रिम चकाचौंध से भौंचक्का-सा है। यह बाजारवाद सिर्फ साधन-सम्पन्न वर्ग को अपना उपभोक्ता ही नहीं बनाता, बल्कि साधनहीन व्यक्ति को कुण्ठित और उग्र भी बनाता है। इस उपभोक्तावादी संस्कृति से हमारे साहित्य और संस्कृति के प्रतिमान भी खंडित हुए हैं। जिनके सहारे भारत का परिवर्तनकारी मनुष्य अब तक अपनी संस्कृति के उग्र धर्मवादी तत्त्वों और रूढ़ हो गए पौराणिक विचारों से लड़ता रहा है। वर्तमान समय में पूरी दुनिया एक ग्लोबल विलेज बनकर रह गई है। जिससे तमाम तरह की भौगोलिक दूरियाँ समाप्त हो गई हैं। परिणामतः दुनिया में किसी भी कोने में होने वाली हलचल का पता चल जाता है। फिर भी ग्लोबल विलेज की इस अवधारणा ने जहाँ एक ओर विकास के नए मार्ग खोले हैं, नई ऊचाईयाँ छुई हैं, वहीं इस वैश्वीकरण के कुछ नकारात्मक पहलू भी सामने आए हैं। उसके कारण हम अपनी भाषा, संस्कृति से दूर होते जा रहे हैं। अपनी चीजों को हेय समझते हैं। हमारे मूल्य, रीति-रिवाज, रहन-सहन पहनावा, सब बदलता जा रहा है। पश्चिम के अंधानुकरण ने हमारी मातृभाषा और हमारी धरोहर से हमें दूर कर दिया है। हालाँकि, इकबाल ने कहा था–''यूनान मिस्र रोमा सब मिट गए जहाँ से... बाकी मगर है अब तक नामो-निशाँ हमारा...'' किन्तु अब लगने लगा है कि हमारी वो परम्परा मिटने वाली है। हमारी वो पहचान मिटने वाली है, जिस पर हम कभी रश्क किया करते थे। आज आर्थिक विकास की दौड़ में भाषा, साहित्य और संस्कृति जिस तरह धूमिल होते दिखाई दे रहे हैं, वे अपने आप में दुःखद हैं। भयावह हैं।

इसी तरह जब तक रचनाकार अपने पाठक से सीधे संवाद नहीं करेंगे, तब तक साहित्य की प्रासंगिकता हाशिये पर ही रहेगी। हिन्दी साहित्य में लगभग दो दशकों से भूमंडलीकरण पर चर्चा हो रही है। किन्तु उस यथार्थ को सशक्त व प्रभावशाली और मार्मिक रूप में अभिव्यक्ति देने का श्रेय 'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ), दौड़ (ममता कालिया) एक ब्रेक के बाद (अलका सरागवी), विसर्जन (राजू शर्मा), ग्लोबल गाँव के देवता (रणेंद्र), उधर के लोग (अजय नवरिया), मुन्नी मोबाईल (प्रदीप सौरव) को जाता है। इन लेखकों ने जरूर अपने लेखन में भूमंडलीकरण को उतारा है। यही नहीं उससे पड़ने वाले दुष्प्रभावों का भी भली-भाँति चित्रण किया है। इस प्रकार देखा जाए, तो हिन्दी साहित्य पर भूमंडलीकरण का प्रभाव प्रकारात्मक भी है और सकारात्मक भी। भूमंडलीकरण का एक दुष्प्रभाव ये भी है कि इससे छपे हुए साहित्य की बिक्री में घोर गिरावट आई है। पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की बिक्री में लगातार कमी आती जा रही

है। परिणामतः तमाम स्थापित तथा प्रचलित पत्रिकाएँ बन्द हो चुकी हैं। इस ग्लोबल-दुनिया ने एक तरह से लिखने-पढ़ने की संस्कृति ही नष्ट कर दी है। पहले कभी ''सुलेख'' का कांसेप्ट था। अपने लेखन को सुन्दर बनाने की होड़-सी लगी रहती थी। किन्तु आज का बच्चा कलम चलाना ही नहीं जानता। वर्णमालाएँ उसे पता ही नहीं। ऐसे में कोई साहित्य क्या खँगालेगा? इस प्रकार देखा जाए, तो भूमंडलीकरण ने हिन्दी साहित्य को बहुत नुकसान पहुँचाया है।

सामाजिक प्रभाव

वास्तव में वैश्वीकरण का सामान्य अर्थ है विश्वव्यापी स्तर पर सभी देशों की अर्थव्यवस्थाओं, सभ्यताओं, संस्कृतियों का सम्मिश्रण एवं परस्पर एक-दूसरे का प्रसारण। आर्थिक एवं तकनीकी प्रगति, विशेषकर सूचना एवं संचार तथा यातायात के क्षेत्रों में हुई प्रगति के कारण इस प्रक्रिया की न दिशा पलटी जा सकती है, न गति अवरुद्ध की जा सकती है। इसने जीवन के हर क्षेत्र को हर स्तर पर जड़ से प्रभावित किया है। वैश्वीकरण ने आर्थिक एवं वैज्ञानिक तकनीकी क्षेत्र को बेतरह प्रभावित किया है। पर सामाजिक सांस्कृतिक क्षेत्र में इसके कई प्रभाव गहरी चिन्ता को जन्म देते हैं। जैसे कि इस प्रक्रिया में विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में पनपी सभ्यताओं, सांस्कृतियों व भाषाओं को अपने अस्तित्व के लिए एक गहरे संकट के दौर से गुजरना पड़ रहा है। खतरा इस बात का है कि कहीं आर्थिक और वैज्ञानिक तकनीकी दृष्टि से अधिकतम सम्पन्न और शक्तिशाली देशों की सभ्यता, संस्कृति, भाषा अपेक्षाकृत कम विकसित या अविकसित देशों की सभ्यताओं, संस्कृतियों, भाषाओं को अपने रंगों में रंगकर उन्हें नेस्तनाबूद न कर दें सांस्कृतिक एकता और विविधता वाली यह दुनिया एकरंगी, विपन्न व उबाउ ना बन जाए। इसके सिवाय एक और समस्या जिस पर गहराई से सोचने की जरूरत है कि सैकड़ों वर्षों के इतिहास और देशों की भौगोलिक अलगाव के कारण कुछ मूलभूत जो अवधारणाएँ हैं; जैसे राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, जो व्यक्ति और समाज की मानसिक संरचना में गहराई से घर कर चुकी है, वे भी अब अपने पारम्परिक अर्थ को खोती जा रही हैं।

यदि देखा जाए, तो विश्व के एकीकरण की ओर उन्मुख होने वाली प्रमुख दो धाराएँ हैं। एक तो मानवता के भविष्य के लिए इस बात की समझ से प्रेरित है कि सबको अपने स्वार्थों से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानवता के हित के बारे में सोचना होगा और इसके लिए न्याय और शान्ति पर आधारित एक भूमंडलीकरण व्यवस्था बनानी होगी, जो सभी को मान्य हो। ऐसे प्रयासों ने अनेक क्षेत्रों में ऐसी वैश्विक संस्थाओं को जन्म दिया, जिनका मार्गदर्शन मानने के लिए विश्व के अधिकतम देश सहमत थे। इसका अर्थ यह था कि वे सम्बन्धित क्षेत्रों में अपनी सम्प्रभुता को उन संस्थाओं के अधीन करने को सहमत थे।

दूसरी बात इन वैश्विक संस्थाओं और प्रतिक्रियाओं के अतिरिक्त इनसे छोटे, क्षेत्रीय या राष्ट्रीय स्तर पर विश्व को एक करने की दिशा में क्रियाशील ऐसी प्रतिक्रियाएँ और संस्थाएँ व संगठन उभरे, जो भौगोलिक रूप से तो एक क्षेत्र या सीमा में स्थित हैं; पर उनकी सोच और प्रेरणा देशकाल में सीमित न रहकर विकासोन्मुख है।

इसी तरह दुनिया तेजी से हो रहे शहरीकरण की ओर भी ध्यान जाना लाजिमी है। जनमानस में राष्ट्रीयता की पकड़ को क्षीण करने में शहरीकरण का बहुत हाथ रहा है। इस प्रक्रिया में भारी मात्रा में व्यक्ति गाँवों से शहर की ओर पलायन करते हैं। प्रायः नौकरी या अच्छे रोजगार के अथवा करियर की तलाश में या फिर शहरों में अधिक सुविधा-सम्पन्न जीवनयापन के आकर्षण में बँधकर लोग गाँवों की सरहदें त्याग देते हैं। यह प्रक्रिया निरन्तर गहराती जा रही है। इस समय विश्व में लगभग अधिक जनसंख्या वाले 36 महानगर हैं। जहाँ गाँवों से आकर लोगों का बसना निरन्तर जारी है। यहीं से वैश्विक नगर अर्थात् ग्लोबल सिटी अस्तित्व में आ जाती है। महानगर विश्व की आर्थिक गतिविधियों के केन्द्र होते हैं। और इनमें होने वाले क्रिया-कलापों के अन्तर्सम्बन्ध वैश्विक क्रिया-कलापों पर सीधा प्रभाव डालते हैं।

निष्कर्ष के तौर पर हम पाते हैं कि भूमंडलीकरण का साहित्य व समाज पर एक तरफ अगर बुरा प्रभाव पड़ा है, तो दूसरी तरफ इसके कुछ दुष्प्रभाव भी हैं; जो साहित्य के साथ-साथ समाज पर बुरा प्रभाव डाल रहे हैं। अतः इस भूमंडलीकरण को स्वीकारा तो जा सकता है, मगर पूरी तरह से इसका गुलाम हो जाना एक दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है।

•

प्राचीनकाल में भारतीय राष्ट्र का निर्माण : आदिशंकराचार्य के दिग्विजयों का ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. शोनालीका कौल*

भारत और विश्व के बौद्धिक इतिहास में प्रबुद्ध बुद्धिजीवियों में से एक, शंकराचार्य के बारे में बात करते हुए, मेरा लेख *जगद्गुरु* की वेदान्त पर उत्कृष्ट टीका की व्याख्या नहीं करेगा। क्योंकि, यह काम मेरे से अधिक सामर्थ्यवान व सुयोग्य विद्वानों ने पहले ही किया हुआ है। बदले में एक इतिहासकार होने के नाते मैं शंकर पर अपनी चर्चा को उस धारणा पर केन्द्रित करूँगी, जो कि अपने देश कर सामूहिक आत्म-परिभाषा से सम्बन्ध रखती है; अर्थात् भारत की अवधारणा। यह एक प्रासंगोचित अभ्यास न सिफ़ इसलिए है, जैसा कि मैं दर्शाऊँगी सिर्फ क्योंकि शंकर का जीवन व उनकी सीखें भारत की अवधारणा को प्रत्यक्ष प्रवृत्त करती है; बल्कि इसलिए भी प्रासंगिक है, क्योंकि प्राचीन भारत में भारत की जो कल्पना थी, वही आधुनिक काल में हाल ही में आक्षेपण का शिकार बनी। हमें बताया जाता है कि भारत जैसे वृहद् और विविधता वाले देश को कभी भी एक नहीं माना जा सकता था और यह की 1947 से अभी तक भारतीय राष्ट्र को गढ़ने के सारे प्रयास बजाय एक लम्बे और समृद्ध इतिहास पर आधारित होने के, एक संदिग्ध सांख्यिकीविद प्रकल्प के सिवा कुछ नहीं। इस लेख में मैं वर्तमान की चर्चा में अतीत को यथोचित रूप से लाने के लिए और भारत नामक राष्ट्र से शंकर को पुनः जोड़ने के लिए, इस धारणा को बदलने का प्रयास करूँगी।

वर्ष 1880 में ब्रिटिश प्रशासक व प्राध्यापक सर जॉन स्ट्राची, जो उस समय भारत में शाही लोक सेवा (इम्पीरीयल सिविल सर्विवेज) के प्रशिक्षक थे; लोक सेवकों (सिविल सर्वेन्ट) को देने वाले अपने व्यक्तव्य की शुरुआत निम्नांकित वाक्य से करते

* एसोसिएट प्रोफेसर, सेन्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज, स्कूल ऑफ सोशल साइंसेज जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी, दिल्ली

थे : ''भारत के बारे में जो सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण बात जानने की है वह यह है कि एक भारत न है न कभी था''[1]। 3000 वर्षों के लम्बे भारतीय इतिहास और संस्कृति के प्रति अनभिज्ञाता जो यह वाक्य दिखा रहा है, उपनिवेशी स्वामियों के विदेशी पूर्वग्रह और आधिपत्य जमाने के लिए बाँटने की योजना को ध्यान में रखते हुए आश्चर्यजनक नहीं लगती। हालाँकि, जो आश्चर्यचकित करता है यह कि इस बात के डेढ़ सौ साल बाद भी प्रभावशाली भारतीय विद्वान और यहाँ तक की एक प्रधान मन्त्री पूर्वाधुनिक काल में भारत के अस्तित्व और यहाँ तक की उसकी संभावना को भी नकारते हैं।

अतः 2005 में ग्रेट ब्रिटेन के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए मानमोहन सिंह ने भारत को उपनिवेशित करने के लिए और इस प्राचीन भूमि को रेलवे और सिविल सर्विस जैसे ''लाभकारी पहलू'' प्रदान करने के लिए, आभार प्रकट किया[2]।

मनमोहन सिंह की विवादास्पद कृतज्ञता के पीछे यह पूर्वानुमान था कि न सिर्फ इन ब्रिटिश संस्थाओं ने भारत का 'नवीनीकरण' किया, बल्कि पहली बार उसे एक सार्वलौकिक गतिविशिष्ट व नौकरशाही ढाँचा देकर, जिसकी कि हमारे पास कमी थी, भारत को पहली बार एकीकृत किया। दो साल बाद अपनी आधिकारित पुस्तक ''इण्डिया आफ्टर गाँधी' में इतिहासकार रामचन्द्र गुहा भारत को 'एक अप्राकृतिक राष्ट्र' कहते हैं; जहाँ मनमोहन सिंह की तरह उनका भी यह तात्पर्य है कि ब्रिटिश राज्य और स्वतन्त्रता आन्दोलन जैसी आधुनिक गतिविधियों ने विविधतापूर्ण और असम्बद्ध प्रदेशों और लोगों के एक समूह को एक अप्राकृतिक और अनैतिहासिक सत्व बनाने पर विवश किया[3]। दोनों ही, राजनीतिज्ञ व इतिहासकार स्पष्टतया एक गहरे प्रयोजनवाद के अन्तर्गत कार्यरत हैं; जिसका मनाना है की एक जनसमूह को गढ़ने में प्राचीनकाल से कहीं अधिक आधुनिककाल प्रवृत्त होता है। हालाँकि, उनके वक्तव्य में जो और सारगर्भित रूप से दिखता है, स्वातन्त्र्य के 70 वर्ष बाद भी, आज तक उपनिवेशिक और पाश्चात्य विचारों की भारतीय बौद्धिक परिधि पर विस्मयकारी पकड़ है। वस्तुतः ऐतिहासिक परिवृद्धि के यूरोपीयन प्रतिमानों पर बौद्धिक निर्भरता इतनी गहवर है, जैसे कि जर्मन और इटैलियन संघीकरण की राष्ट्र राज्य के विपरीत एक राष्ट्र सबसे पहले और मुख्यतः एक बोध है : एक सर्वनिष्ठ क्षेत्रीय और सांस्कृतिक सत्व, जिसको वह नाम देते हैं व उस पर अधिकार दिखाते हैं; का सदस्य होने का संयुक्त बोध, भावनाओं, विश्वास और प्रत्यय का एक समुदाय, ''एक अनुभूत समुदाय'', जैसा कि रजत कान्त राय ने उसे नाम दिया है[4]।

और कोई भी व्यक्ति, जिसे भारतीय सभ्यता के प्रमुख ग्रन्थों और उनमें दिए गए सांस्कृतिक भूगोल, जैसे कि रामायण, महाभारत व महापुराणों; जिन्हें 5वीं सदी ईसा पूर्व से लेकर 5वीं सदी ईसा बाद रचा गया, से थोड़ा-सा भी तर्कसंगत परिचय होगा, वह तुरन्त ही इस अनुभूत समुदाय और सर्वनिष्ठ परिबद्ध सत्व, जिनको आर्य ग्रन्थों में भारतवर्ष का नाम दिया गया है व उसकी पुष्टि की गई है; की धारणा को

पहचान सकेगा। इसके अतिरिक्त, भारतवर्ष की सामयिक भौगोलिक अवस्थिति और रूपरेखा को पहचान बताया गया था। महाभारत इसे विस्तीर्णता से, पर स्पष्टता से इस प्रकार परिभाषित करता है : ''समुद्र से उत्तर की को ओर हिमालय से दक्षिण की ओर की भूमि'', —एक स्थायी और उपमहाद्विपीय परिभाषा, यदि ऐसी कोई परिभाषा है तो[5]। विष्णु पुराण (अंश 2, अध्याय 3, श्लोक 1, 8) में भारतवर्ष की न सिर्फ भौगोलिक अपितु सजातीय व सांस्कृतिक सीमाओं को भी परिभाषित व अंगीकृत किया गया है :

उत्तरम् यत समुद्रस्य हिमाद्रिश्चैव दक्षिणं।
वर्षम् तदभारतं नाम भारती यत्र संततिः।।

योजनानाम् सहस्रं तु द्वीपो अयं दक्षिणोत्तरात।
पूर्वे किराता यस्यंते पश्चिमे यवनाः स्थिताः।।

समुद्र के उत्तर में और हिमालय के दक्षिण में
वह देश भारत है व उसकी सन्तान भारती।।
उत्तर से दक्षिण तक हजारों योजन
इसके पूर्व में किरात हैं व पश्चिम में यवन।।

क्या भारत के नाम से जाने जानेवाले राष्ट्र की इससे अधिक मुखर व स्पष्ट ज्ञाप्ति हो सकती है? कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता भी नहीं है, उत्तरकालीन परिसाक्ष्य जैसे ही हुआंग सांग जैसे चीनी बौद्ध तीर्थसेवी व यात्री, जिन्होंने छठी शताब्दी ईसा के पिछले भाग से प्रारम्भिक सातवीं शताब्दी तक भारत का भ्रमण किया और *सू यी की* नामक यात्रावृत्तान्त में लिखा है कि जब वह नगरहर में (आधुनिक जलालाबाद), खैबर पास के पश्चिम में (आज का अफगानिस्तान), खड़े थे, उन्हें लगा कि वह इन्दु नामक देश के प्रवेशद्वार पर खड़े हैं[6]। इस देश के उनके पारम्परिक वर्णन से, जैसे उत्तर में हिमाद्री से और दक्षिण में तीन बाजू में समुद्र से परिबद्ध, ओर 10,000 ली (चीनी मील) में विस्तृत और 70 विभिन्न राज्यों द्वारा बसा हुआ, प्रत्यक्ष होता है कि उन्होंने भारत को सम्बोधित किया और न सिर्फ सिन्धु घाटी को।

अतः यह मत कि भारत भौगोलिक और सांस्कृतिक रूप से एक राष्ट्र होने के लिए अत्याधिक विविध था इस तथ्य को अनदेखा करता है कि 'राष्ट्र' की प्राचीन भारतीय धारणा उस विविधता को सहज ही पहचानती है व अपनाती भी है। उपरोक्त दोनों ऐतिहासिक परिसाक्ष्यों को बतलाने के पीछे उद्देश्य यह है कि भारत की सजीव अनेकता की स्थिति को प्राचीन स्रोतों द्वारा स्वीकृति देने के बावजूद, उन्होंने सांस्कृतिक संचालन के एक सांस्कृतिक संगठित क्षेत्र को और एक संगठित व्याप्ति को भी अंगीकृत किया। भारत नामक इस सार्वलौकिक संगठित ज्ञाप्ति के सन्दर्भ में मैं आदि शंकराचार्य की शिक्षा और यात्रा पर चर्चा करना चाहती हूँ।

आदि शंकर की तिथि और उनके जीवन इतिहास पर गहन व निरर्थक विवाद हैं, जिनका अन्तिम परिणाम, जैसा कि स्वामी तपस्यानन्द कहते हैं, एक ''निपुण अनभिज्ञता'' को जन्म देना है और कभी-कभी शंकर को इतिहास के बजाय, एक दिग्गज का छायादार चित्र बनाना है[7]। शंकर की अनामिकता में जो बात अधिमूल्यित नहीं है, वह यह है की अद्वैत परम्परा में स्वीय व्यष्टित्व की कोई प्रधानता नहीं थी और ऐतिहासिक शंकर की खोज संम्भवतः सिर्फ विशिष्टता और व्यक्ति के प्रति एक पश्चिमी सनक है।

जैसा भी हो, सन्देह के बाहर इस महान् सन्त के जीवन के बारे में जो न्यूनतम तथ्य हमें मालूम हैं; वह यह हैं कि उनका जन्म दक्षिण भारत में कलड़ी, केरल में 700 वर्ष ईसा पश्चात् हुआ और उत्तर भारत में केदार, उत्तराखण्ड में निधन हुआ। उन्होंने कम आयु में संन्यास लिया, उपनिषद, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्रों पर प्रभुत्व प्राप्त किया और इन सब पर अप्रतिम भाष्य लिखे और इस प्रक्रिया में अपने तर्क की दृढ़ता और अन्य सिद्धान्तों के कुशाग्र खण्डन से, वेदान्त की उच्चता और अभेद्य प्रतिष्ठा स्थापित की। शंकर के अनुसार, वेदान्त के मूल में अद्वैत के मूल में अद्वैत का सार था।

एकतत्त्ववाद व द्वितत्त्ववाद के यूरोपीय वर्गीकरण के साथ में काम करने वाले आधुनिक विद्वानों द्वारा गैर-द्वैतवादी में रूप में अद्वैत को अनुवादिक किया जाता है जबकि इस अद्वैत की इससे भी अधिक सूक्ष्म सम्प्राय को संभवतः जैकलीन हर्स्ट ने अधिक शुद्धता से एकीकृत चैतन्य, वह जिसका दूसरा न हो, के रूप में व्याख्यायित किया है[8]। यह स्वबाध्य चेतना का विचार है, जो की बहुलता (अद्वैत) से परे है और इसका कोई गुण नहीं है (निर्गुण)। हर्स्ट शंकराचार्य को एक परमश्रेष्ठ गुरु के रूप में महत्त्व देती हैं; बजाय कि सिर्फ एक भाष्यकार अथवा आध्यात्मिक टीकाकर के रूप में। वह दर्शाती हैं कि शंकर की शिक्षण पद्धति में प्रश्न पूछना, परित्याग, प्रतिवाद, आभयंतरीकरण की प्रविधि, ऐसी थी शैक्षणिक पद्धतियाँ जो उपनिषदों में पाए जाते हैं (श्रुतिवत) और जिनका अनुपम उद्देश्य छात्र की प्रतीति की अनुभूति में सहायक होना था, जो कि ब्राह्मण की आधारभूत वास्तविकता है, न कि उसकी प्राप्ति में[9]। यह अध्यापिकता शुद्ध प्रतीति के अनुभव की ओर लक्ष्य करती थी बजाए की मात्र व्याख्यीकरण के; क्योंकि उस प्रतीति की प्रकृति शब्द व व्याख्या से परे हो जाती थी। जैसा की तैत्तरीय उपनिषद् में लिखा है, प्रतीति से ही शब्द वापस आते हैं (यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सः, 1.11.1, 2.9.1)। इसका सम्बन्ध सर्वोतकृष्ट यथार्थ से था जो कि बोध और प्रज्ञान के परे है; इसीलिए, *परा* (transcendent) और अप्रमेय (बोध के प्रमाण के परे)। अतः शंकर की अध्यापिकता साथ ही साथ आचरण भी था, ऐसा आचरण जो की इस एकीकृत अन्तिम चेतना के अनुभव की ओर निर्देशित था।

अब शंकराचार्य की आध्यात्मिकता व आचरण के लिए स्थानिक सन्दर्भ क्या था? दूसरे शब्दों में उन्होंने अद्वैत किस सिद्धान्त किसको और कहाँ सिखाया? यह

सर्वदेशीय व सार्वभौमिक संस्कृत भाषा व वैचारिक-विश्व के प्रति श्रद्धांजलि थी कि इसकी ज्ञान-पद्धति के विवाद का क्षेत्र अपनी व्युत्पत्ति के क्षेत्र तक सीमित नहीं था, बल्कि अपने आधार के रूप में सम्पूर्ण दक्षिण एशिया व भारत के साथ-साथ मध्य एशिया से लेकर दक्षिण पूर्व एशिया तक के लम्बे चौड़े वृहद् क्षेत्र तक फैल व प्रचलित हो सकता था। आदि शंकराचार्य की विद्वत्ता की पहुँच, जबकि संस्कृत शिक्षा के अधि-क्षेत्रीय चरित्र के साथ परिपुष्ट होती थी, जैसे कि यह केरला तक सीमित नहीं थी; अथवा दक्षिण भारत तक भी नहीं, भूभागीय बोध की एक विशेष व्यवस्था को दिखाती है। यह व्यवस्था खुद शंकराचार्य द्वारा स्थापित की गई थी। मेरा सुझाव है कि, यह उन्होंने खुद आत्म जागरूकता में रहकर अपने प्रसिद्ध दिग्विजय के द्वारा किया—उन जगहों पर विजयी भ्रमण जहाँ शंकराचार्य और उनकी शिष्य मण्डली ने एक शिक्षा के गढ़ से दूसरे तक भ्रमण किया और स्थानीय विद्वानों के साथ तीव्र शास्त्रार्थ किया, उन्हें हराया और फिर अन्य सिद्धान्तों पर अद्वैत सिद्धान्त की सर्वोच्चता सिद्ध की। मुख्य स्रोतों में से एक स्रोत जो कि शंकराचार्य के इन दिग्विजयों के बारे में विवरण देता है वह है 13वीं सदी में माधव विद्यारण्य द्वारा लिखा संचरित्र, शंकर दिग्विजय। यह हमें बताता है की शंकराचार्य पहले कलड़ी से चले और रामेश्वरम् में प्रत्याख्यान किया; फिर कांची, फिर आन्ध्र, विदर्भ और कर्णाटक, तान्त्रिक शैव जैसे की भैरवों और कापालिकों को विशेष रूप से पराजित किया। उसके बाद वे पश्चिमी समुद्र के किनारे पहुँचे और फिर गोकर्ण, सौराष्ट्र, द्वारका के रास्ते में वे वैष्णव, शैव, शाक्त और सौरों को हराते चले। उसके आगे वे उज्जैनी, बहलिका, शूरसेन, दरद, कुरु, पाँचाल और फिर कामरूप और कौसल, अंग, गौड़ पहुँच शाक्तों, पाशुपतों, और क्षपणकों को हराते चले। हमें पता चलता है कि इन यात्राओं का एक नियोज्य चरम बिन्दु कश्मीर में आया, जहाँ शंकराचार्य की अपूर्व बुद्धिमत्ता की परम् विजय, किशनगंगा (वर्तमान में नीलम गाँव, एल.ओ.सी. के ठीक उत्तर में) के तट पर बने सुप्रसिद्ध शारदा मन्दिर में सर्वज्ञपीठ की गद्दी पर विराजमान होने में प्रतीकात्मक रूप से दिखी। कश्मीर में शंकराचार्य के इस महाकाव्यीय पदार्पण की प्रतिध्वनि इतिहास में भी दिखती है। यहाँ तक कि प्राचीन ज्येष्ठेश्वर मन्दिर, जिसकी स्थापना श्रीनगर में मौर्य शासक अशोक के एक वंशज द्वारा की गई थी; उसे जनसामान्य में शंकराचार्य के मन्दिर के नाम से ज्यादा जाना जाता है। हम यह भी जानते हैं कि शंकराचार्य ने भारतवर्ष के चार छोरों पर चार मठों की स्थापना की थी; यह थे : उत्तर में बद्रीनाथ, पूर्व में पुरी, दक्षिण में शृंगेरी, और पश्चिम में द्वारका। यह देखने में अधिक श्रम नहीं लगता कि न सिर्फ ये 4 केन्द्र बल्कि शंकराचार्य के भ्रमण का सम्पूर्ण यात्रा-क्रम, उनका दिग्विजय, आधुनिक भारतीय राष्ट्र के छोरों के तदनुरूप है।

हालाँकि, यह प्रारम्भिक अवलोकन नहीं है; और पहले भी बहुत से विद्वानों ने यह अनुपालन किया है कि जिसमें भारत के दार्शनिक राष्ट्रपति एस. राधाकृष्णन भी

हैं; जिनका मानना था की मठों के स्थानों के चुनाव में शंकरचार्य ने ''एक तीक्ष्ण राजनैतिक प्रतिभा और देशभक्ति'' का प्रदर्शन किया। पर मेरी व्याख्या यूसिज से अलग है। मेरा ऐसा विश्वास है कि शंकरचार्य की यात्राएँ या दिग्विजय देशभक्ति नहीं थीं, न ही वह सिर्फ विवाद में निपुण थे, वे साथ ही साथ अध्यापिकता भी थे। उनका तात्पर्य था कि वे प्रभाव के साथ ही साथ एक मण्डल को प्रदर्शित करें, जो कि विविध विचारों से युक्त था। जैसे कि भारतवर्ष, परन्तु अद्वैत से एकाकृत था, जो कि इस बाहुल्य की मरीचिका को भेदता हो। भारत, उस समय, शंकर के लिए एक प्रयोगशाला बन गया। एक प्रयोगशाला जो कि संसार के विस्मयकारी वैविध्य (भ्रामक दुनिया) और ब्राह्मण के सर्वश्रेष्ठ ऐक्य (अनपेक्ष, शुद्ध चेतना) को प्रतिबिम्बित करती हो। इन दिग्विजयों का अखिल भारतीय विस्तार शैक्षणिक प्रभाव के प्रति एक जागरूक निर्वाचन था। और इस प्रक्रिया के अन्तर्गत, शंकराचार्य की दिग्विजय भारतवर्ष की एकता, जो कि भारत है; को अभिप्रमाणित करती है व पुनः उसकी पुष्टि करती है।

●

संदर्भ

1. उद्धृत, डाइना एक, इण्डियाः ए सेक्रेड जीओग्राफी न्यूयॉर्कः हार्मनी बुक्स, 2011, पृ.47
2. ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा दी गई मानद उपाधि की स्वीकृति में, डॉ. मनमाहेन सिंह द्वारा दिया गया सम्बोधन, लन्दन, जुलाई 8, 2005 https:/mea.gov.in/SpeechesStatements.htm?dtl/2623/Address+by+ Prime+ Minister+Dr+Manmohan+Singh+in+acceptance+of+Honrary+ Degree+ from+Oxford+University
3 रामचन्द्र गुहा, इण्डिया ऑफ्टर गाँधी द हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डिमॉक्रेसी, न्यूयॉर्कः हार्पर कोलिंस, 2007, पृ.7
4 रजत कान्त राय, द फेल्ट कम्यूनिटी : कॉमनैलिटी एण्ड मेंटैलिटी बिफोर इ इमर्जेन्स ऑफ इण्डियन नशनलिस्म, न्यू दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003
5 ऐक, इण्डिया, पृ.94
6 शोनालिका कौल, द मेकिंग अव अर्ली कश्मीर : लैण्डस्केप एण्ड आयडेंटिटी इन द राजतरंगिणी, दिल्लीः ऑक्स्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2018, पृ.157
7 शंकर-दिग-विजयः द ट्रेडिशनल लाइफ ऑफ श्री शंकाराचार्य, माधव विद्यारण्य द्वारा, स्वामी तपस्यानन्द द्वारा अनुवादित, चेन्नई : श्रीरामकृष्ण मठ, 2008, पृ.(V)
8 जे. जी. सुथरेन हर्स्ट, शंकराज अद्वैत वेदान्त : अ वे ऑफ टीचिंग, ओकसन और न्यू यॉर्कः राउटलेज कर्जन, 2005, पृ.2
9 हर्स्ट, शंकराज अद्वैत वेदान्त, पृ.69

विकास से विनाश की ओर

माधुरी नाथ*

क्या कहें इस विकास को, जो हमारी प्रगति का सूचक तो है; पर हमें ले जा रहा है अवनति की ओर। इस परिवर्तनशील संसार में सब कुछ समय के साथ-साथ बदलता जाता है। कभी तो बदलने की रफ्तार धीमी रहती है, कभी इसकी रफ्तार तेज और कभी बहुत ही ज्यादा तेज। जब परिवर्तन की रफ्तार धीमी रहती है तो परिवर्तन देर से नजर आता है और जब रफ्तार तेज रहती है, तो वह जल्दी ही नजर आने लगता है। इसे ही हम कहते हैं, 'जमाने का असर'। परिवर्तित रूप-रंग, रीति-रिवाज, रहन-सहन या खान-पान का प्रभाव पड़ता है समाज पर और लोगों पर। नतीजा यह होता है कि हर पीढ़ी अपनी अगली या पिछली पीढ़ी से भिन्न होती है। भिन्न होते हैं उनके सोच-विचार, भिन्न होती है उनकी जीवन-शैली। इसी भिन्नता के प्रभाव को हम अक्सर जमाना बदल गया, कहते हैं।

जो लोग परिवर्तन को यानी समय के अनुसार बदलने की इस प्रक्रिया को सहज ढंग से लेते हैं और स्वयं भी उसी के अनुरूप बदलते जाते हैं; उन्हें कभी किसी प्रकार की शिकायत नहीं होती। वे नहीं कहते कि 'आज जमाना बदल गया', 'यह जमाने का असर है' या 'हमारे जमाने में ऐसा नहीं होता था।' क्योंकि वे जमाने के साथ-साथ चलते हैं यानी बदलते हुए समाज के साथ खुद भी बदलते जाते हैं। इसलिए उन्हें अपनी पीढ़ी और दूसरी पीढ़ी में विशेष अन्तर नहीं लगता। वे न क्षुब्ध होते हैं, न ही रुष्ट होते हैं, जमाने के प्रति या जमाने की गतिविधियों के प्रति। ऐसे लोग न तो पुराने जमाने से आज के जमाने की तुलना करते हैं और न ही पिछले जमाने को आज के जमाने से श्रेष्ठ बताते हैं। परिवर्तन को सहना और स्वाभाविक मानकर हर क्षेत्र में आए बदलाव को सहजता करते जाते हैं। इसलिए खुश रहते हैं हर स्थिति में, परिस्थिति में।

* पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं पूर्व अभिषद् सदस्य, राँची विश्वविद्यालय, अध्यक्ष अ.भा.सा. परिषद् (झारखण्ड), राँची।

परिवर्तन स्वाभाविक है, संसार का यह नियम बदल नहीं सकता। परन्तु विगत दस-पन्द्रह वर्षों में जो बदलाव अपने देश में आया है, वह अवश्य ही अप्रत्याशित व आश्चर्यजनक है। अप्रत्याशित एवं आश्चर्यजनक इसलिए कि बदलाव की गति बड़ी तेज रही यानी परिवर्तन बड़ी तेजी से हुआ, इसलिए हठात् जैसे बदल गया जमाना, जमाने के लोग, उनका रहन-सहन, उनके सोच-विचार, अर्थात् सम्पूर्ण जीवन शैली। सर्वाधिक प्रभावित है आज की युवा-पीढ़ी।

आज की युवा-पीढ़ी का जीवन इतना बदल गया है कि उसका ठीक अपनी विगत पीढ़ी यानी अपने माता-पिता की पीढ़ी के लोगों से ताल-मेल बैठना मुश्किल हो गया है। कारण है इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का अधिकाधिक आविष्कार एवं उनका उपयोग, साथ ही इस क्षेत्र में होते नित्य नए-नए प्रयोग। परिणाम यह है कि सुख-सुविधाएँ बहुत बढ़ गई हैं। जो काम पहले घण्टों में होता था, अब चन्द सेकेण्डों में हो जाता है और जिस काम में लोग दिन-दिन भर परेशान रहते थे, अब घण्टे आध-घण्टे में हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि लोगों की खुशहाली बढ़ी है। लोग अधिक सुखी और सम्पन्न हैं विगत कुछ वर्षों की अपेक्षा। यह स्थिति देश की उन्नति एवं प्रगति का प्रमाण है। निःसन्देह हम प्रगति के पथ पर हैं; परन्तु इस प्रगति की आड़ में छिपे दुष्परिणाम की सम्भावना हमें आशंकित करती है।

प्रायः हर हाथ में आज मोबाइल दिखता है। पढ़ने वाले विद्यार्थी हों या किसी दफ्तर के अफसर या कर्मचारी, घर में काम करने वाली कोई कामवाली हो या कोई मजदूर या मजदूरनी सबके लिए मोबाइल आज सबसे जरूरी चीज बन गई है। यही हाल है कम्प्यूटर एवं लॅपटॉप का। बिना इसके तो किसी दफ्तर या बैंक में काम ही नहीं हो सकता। किसी को कहीं आने-जाने कार्यक्रम भी ये ही तय करते हैं, क्योंकि टिकट कटवाना, आरक्षण करवाना या अन्य कार्यक्रम इन्हीं यन्त्रों की मदद से सम्पन्न होते हैं। घर एवं रसोई में ऐसे ही यन्त्रों का अधिकाधिक प्रयोग जहाँ समय और श्रम की बचत करते हैं, वहीं अपने-आप पर भरोसा करने का आत्मविश्वास से यन्त्र छीनने लगे हैं।

समय की बचत तो होती है, यह सुखद पक्ष है; पर ऐसा लगता है कि आज का हर व्यक्ति घोड़े पर सवार है। क्षण भर के लिए रुकना या इन्तजार करना अथवा किसी के लिए कुछ समय देना, आज किसी को सहन नहीं होता। उसे लगता है, यह समय की बर्बादी है यानी अपने समय की कुर्बानी। समय का यह सदुपयोग है या दुरुपयोग, समझ में नहीं आता इस प्रवृति को क्या कहें हम? आज के समय में समय का ऐसा अभाव क्यों? सब सुख के साधन हैं, सहूलियत और सुविधाएँ भी भरपूर हैं; पर किसी के पास समय नहीं!

सबसे अधिक तो खलती है घर में व्याप्त संवेदनहीनता। बात करने के लिए हाथ में हर घड़ी जब मोबाइल मौजूद है, तो क्यों कोई सामने बैठे निकटस्थ व्यक्ति से

बात करे या कुछ कहे या पूछे? इतनी देर में तो दूरस्थ से दूरस्थ मित्र या किसी अन्य परिचित से बातचीत हो सकती है। निकटस्थ से बातचीत करने की अपेक्षा दूरस्थ से बात कर लेना क्या अधिक उपयोगी नहीं, समय और साधन के उपयोग की दृष्टि से? फेसबुक से तो नए-नए अपरिचितों से भी सम्बन्ध जुड़ता है; मैत्री होती है; आत्मीयता बढ़ती है और आत्मीयता यहाँ तक बढ़ जाती है कि जीवन-साथी भी लोग बन जाते हैं; बनते जा रहे हैं। सुविधा इसमें भी है, समय की बचत भी है और ताम-झाम में भी कमी। इसलिए आज के युग का यह प्रभाव प्रशंसनीय है; परन्तु सर्वथा निर्दोष तो इसे नहीं ही मान सकते और न मानना ही चाहिए।

'शुभस्य शीघ्रम्' के अनुसार 'चट मंगनी पर ब्याह' होने लगे हैं। महीनों तैयारी में नहीं लगते, सप्ताह भर नेग-चार नहीं होते। बिना झंझट-झमेले के शादी एक दिन में हो जाती है होटलों में। बस एक रात के लिए होटल की बुकिंग—कुछ घण्टों का हो-हंगामा, आतिशबाजी-पटाखे, नाच-गाना, खाना-पीना और उसके बाद सब कुछ समाप्त। नामोनिशान तक नहीं रहता शादी की रौनक का। शादी-ब्याह के क्षेत्र में आए इस परिवर्तन को क्रमशः समाज का समर्थन प्राप्त होता जा रहा है। इसीलिए आजकल की शादियाँ एक-दो दिनों में सम्पन्न हो जाती हैं; बिना झंझट-झमेलों के। यह बदलाव भी श्रेयस्कर है कई अर्थों में।

परन्तु पुराने रीति-रिवाज, हमारी प्रथाएँ, परम्पराएँ एवं आत्मीयता की डोर से बँधे सगे-सम्बन्धियों की भागीदारी प्रायः समाप्त होती जा रही है। मिटता सा रहा है अपनापन, खोते जा रहे हैं बुजुर्ग अपना मान-सम्मान, अपने महत्त्व और दूर से दूर जा रहे हैं सगे-सम्बन्धी एवं रिश्तेदार। यह स्थिति जितनी असंतोषजनक है, उतनी ही तकलीफदेह एवं भयावह। इसलिए शोचनीय एवं चिन्तनीय भी।

जरा सोचकर देखें— मोबाइल के बिना हम एक दिन भी नहीं रह सकते। युवा पीढ़ी, छात्र-छात्राओं पर तो मोबाइल इस तरह हावी है कि एक दिन क्या, दो-चार घण्टे भी वे बिना मोबाइल के रह नहीं सकते। छटपटा उठते हैं वे, एकदम बेचैन से मानो साँस अटक गई हो उनकी। दोस्तों से कट जाना, अनर्गल बातचीत से एकाएक बेखबर हो जाना या अंट-संट खबरों, मजाकों-मेसेजों से वंचित हो जाना बेहद पीड़ादायी होता है आज के बच्चों, विद्यार्थियों के लिए। एक-एक पल काटना मुश्किल हो जाता है उन्हें मोबाइल के बिना। इसलिए मोबाइल का खराब हो जाना, उसका गुम हो जाना या चोरी हो जाना, आज की सबसे बड़ी त्रासदी है। बच्चों के लिए वो है ही बड़ों के लिए और भी; क्योंकि बच्चों की पीड़ा उनकी निजी पीड़ा में जुड़ जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि नए-नए उपकरणों की उपलब्धता से हमारा जीवन, सुखी-सम्पन्न अवश्य हुआ है, सुविधाओं के कारण कार्यक्षमता भी बढ़ी है और समय की उपयोगिता भी। परन्तु जरा सोचें हम अपनी क्षमता कितनी शीघ्रता से खोते जा रहे हैं? कितने सशक्त और पंगु होते जा रहे हैं? बिना मिक्सी के मसाले पीसे नहीं जा सकते। हम खुद तो पीस नहीं

ही सकते हैं, किसी दूसरे से भी नहीं पिसवा सकते। मसाला पीसने की आदत एकदम छूट गई है; सबों की और छूटती जार रही है क्रमशः। आजकल बिना वॉशिंग मशीन के हमारे कपड़े नहीं धुल सकते; क्योंकि हमारी आदत नहीं उन्हें धोने की... साबुन से हाथ खराब होते हैं, डिटर्जेन्ट से एलर्जी है। अब पंखे की हवा रास नहीं आती, क्योंकि ए.सी. सहज ही उपलब्ध है। इसलिए जरूरी हो गई है ए.सी. काम करने के लिए, सोने के लिए, आराम करने के लिए। थोड़ी देर के लिए...घण्टे-दो घण्टे के लिए बन्द हो जाए ए.सी. तो जीना मुहाल हो जाए। रात को नींद नहीं, दिन को चैन नहीं, ऊपर से मिजाज गरम और गुस्सा सातवें आसमान पर। हाय-हाय करते एक-एक पल गुजारना कठिन। यह कैसी परवशता है? हम गुलाम होते जा रहे हैं यन्त्रों के, नए-नए आविष्कारों के।

घर की सफाई के लिए भी हम अपने हाथों का उपयोग कम ही करने लगे हैं वैक्यूम क्लीनर है न कोने-कोने की सफाई के लिए। वह काम आता है, उसके हाथ वैसे ही अन्य उपकरण हैं घर की, छत की, कार की सफाई के लिए। कोई कितना गिनाए? रोज-रोज तो नए-नए यन्त्र और उपकरण बाजार में आते रहते हैं। इसलिए जरूरी हो जाता है उन्हें खरीदना, जरूरी हो जाता है उनका इस्तेमाल और उससे भी जरूरी हो जाता है उसके इस्तेमाल के फायदे गिनना।

फल और सब्जी काटने के लिए भी मशीन हैं और उनका रस निकालने के लिए भी हाथ से कुछ काटना-कूटना, आटा गूंदना या तो फूहड़पन है या अपनी हैसियत का पर्दाफास करना है। भला! है न इन कामों के लिए स्लाइसर, कटर, जूसर। क्यों फिर अपना हाथ लगाएँ? इन मोटे कामों को करने से हाथ खराब नहीं हो जाते क्या? उँगलियाँ मोटी हो जाती हैं, त्वचा खुरदरी हो जाती है और नाखून घिस जाते हैं! हाथ काम करने के लिए हैं क्या? लम्बी पतली उँगलियाँ, कोमल-चिकनी हथेलियाँ और रंग-बिरंगे नेल पोलिश से रंगे बड़े-बड़े नाखून आज हर महिला के हाथों की सुन्दरता के मापदण्ड हैं। शोभनीय हाथ दर्शनीय तो होते ही हैं—इसमें सन्देह नहीं। पर हाथ सिर्फ दर्शनीय बनकर रह जाएँ, यह मानसिकता महिलाओं, किशोरियों, बच्चियों की जरूर घातक एवं चिन्तनीय है। पर यही मानसिकता आज बनती जा रही है महिलाओं की, बच्चियों एवं किशोरियों की।

लड़के किशोर या युवक पैदल चल नहीं सकते। दूर चलने से थक जाते हैं या हाँफने लगते हैं। क्योंकि देश की समृद्धि के साथ-साथ उनकी जीवन शैली में अकस्मात् इतना परिवर्तन आ गया है कि पैदल कहीं आना-जाना पिछड़ापन माना जाता है या दरिद्रता। तरह-तरह के दोपहिया वाहन आज बाजार में उपलब्ध हैं। उनका उपयोग धड़ल्ले से हो रहा है किशोरों में, अल्प वयस्क युवाओं में इसलिए आदत बनती जा रही है इसकी सवारी। सड़क पर सरपट दौड़ती इन असंख्य दो-पहियों को देखकर ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि युवा पीढ़ी के लिए इनकी अहमियत विगत कुछ

वर्षों में कितनी बढ़ गई है। अहमियत कहें या इसे आवश्यकता? कहीं भी जाना हो स्कूटर, लूना, साइकिल या मोटर साइकिल चाहिए ही चाहिए। पैदल चलना संभव नहीं, थकावट हो जाती है, पैर दुखने लगते हैं या लज्जा आती है कि 'पैदल आते-जाते हैं'। यह एक विचित्र मानसिकता लोगों में विकसित हो गई है। नतीजा क्या है आज? भाग-दौड़ की जिन्दगी में...दुर्घटनाएँ। फलस्वरूप मृत्यु...हाहाकार और त्रासदी। अल्पवयस्कों का इस प्रकार कालकवलित हो जाना कितना हृदय विदारक है।

हाथ का उपयोग महिलाओं में कम होता जा रहा है, तो पाँव का उपयोग युवाओं में पुरुषों में। ज़मीन पर बैठना दिनोंदिन लोगों के लिए असंभव होता जा रहा है। बैठकर जमीन पर खाना मुश्किल, कुछ करना मुश्किल ऐसी परवशता अत्यन्त दुःखद है, भयावह भी। हाथ-पैर रहते पंगु बन जाने की विवशता कितनी कष्टकर है।

सोचकर देखें, यदि यही प्रवृत्ति रही और यह प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ती ही गई बिना रोक-टोक के तो परिणाम क्या होगा? कैसे बनेगी युवा पीढ़ी आत्म निर्भर? कहाँ से आएगा मनोबल? आलसी, आराम-तलबी युवाओं में? स्वस्थ और निरोग रहने के सारे उपाय क्या बेअसर नहीं हो जाएँगे? जिम, स्वीमिंग पूल, एरोबिक क्लासेज, हेल्थ सेन्टर और योग केन्द्र क्या लोगों का स्वास्थ्य बचा पाएँगे? ये प्रश्न हमें सोचने को मजबूर करते हैं कि कहीं हम विकास की आड़ में विनाश की ओर तो नहीं जा रहे हैं? सोचें और निदान की चिन्ता करें।

•

टैगोर कला : आध्यात्मिक सृजन का अनन्त नाद

डॉ. अन्नपूर्णा शुक्ला*

कलाकार अन्तः आवेग से ही बिम्बों का सृजन कर मूर्त रूप प्रदान करता है और ''अपनी कला के जरिए दर्शक को सत्य एवं आत्मज्ञान के मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है।'' भारतीय कलाएँ अपनी साधनावस्था में ही फलीभूत हुई हैं। अन्तस का नाद जब करवट बदलता है, तो समस्त कलाएँ आप्लावित हो उठती हैं। साधना की शक्ति भी अनन्त हो उदात्त भाव से भर जाती है। कलाकार मात्र कलाकार नहीं होता, एक साधक होता है, जो अपनी कला के माध्यम से दर्शक को सत्य एवं आत्मज्ञान के मार्ग की ओर प्रवृत करता है, तभी तो कलाएँ अपने लालित्यपूर्ण अनन्त नाद के कारण अनोखी होती है। कलाओं में जब-जब आध्यात्मिक नाद प्रस्फुटित हुआ है, तब-तब कलाएँ अनन्त तक विस्तारित होती हुई आसमाँ के फलक को गुंजायमान करती हुई आध्यात्म और लावण्यता से आच्छादित रही हैं। हमारी संस्कृति की मूलाधार कलाएँ ही नहीं हैं। तभी तो विश्व फलक पर टैगोर की कला आच्छादित रही है। टैगोर की कला में आध्यात्म का नाद प्रारम्भ से ही फलीभूत रहा है। इसी आध्यात्मिक अनन्त नाद की सौन्दर्य साधना से उपजी रचनाएँ अनन्तकाल तक अपनी दृष्टि में नादात्मक थीं तथा कला को वह चेतन और निरन्तर परिवर्तन शील मानते थे। उनका हर बिम्ब, क्षितिज पार ले जाकर विचारों की तलहटी में डुबों जाता है, जिससे हर संवेदनीय दर्शक को नवीन अनुभवों का अहसास स्वतः हो जाता है। इस चित्र में अनन्त नाद अपने मुखरित अवस्था में स्पष्ट हो रहा है।

टैगोर आत्मदर्शन के माध्यम से ही कला के अद्भुत दर्शन को अपनी रचनाओं में संजोकर एक नवीन कला दृष्टि प्रदान की है। यही कला आत्मा की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। तभी यह सभी बन्धनों से मुक्त हो आधुनिक भारतीय कला के रूप में फली-फूली और टैगोर आधुनिक कला के पुरोधा माने गए। टैगोर का मन हमेशा बन्धन मुक्त रहना चाहता था, उन्हें सदैव वात्सल्य से प्रौढ़ तक प्रकृति

* असोसि. प्रो. चित्रकला विभाग, 6 रवीन्द्र निवास, बनस्थली विद्यापीठ राजस्थान, मो. 9351636365

का ही, सानिध्य मिला, तभी तो मन विभिन्न रूपकारों के लिए कुलाचे भरता हुआ गद्गद् हो, प्रकृति के साथ एकाकार हो नृत्य करता है।

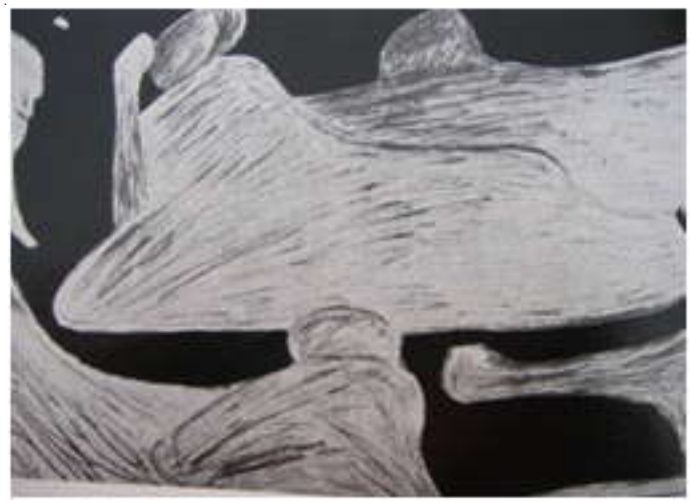

(चित्र सं.-1)

(चित्र सं.-2)

प्रकृति के भावरूपी मण्डप में सद्यः कलाकार, रचनाकार की तरह प्रकृति से उठे उन आकारों और भावों को आत्मसात् कर रेखाओं को रंगों से भिगो-भिगोकर फलक पर नवीन कृतियों का सृजन करता चलता है। प्रकृति के अमूर्त रूप में ईश्वर की कल्पना करना और उसी को परमसत्य मानना ही आत्मानन्द व सौन्दर्यानन्द है। टैगोर ने सौन्दर्य, रस और आनन्द को रचना संसार का अदृश्य और अमूर्त भाव माना है;

जिसे अनुभव की अलौकिक भावबोध की अनुभूति होती है। यही नाद तत्त्व है, इसी नाद को ही उपनिषदों में ब्रह्म माना है। यहीं ब्रह्म रूपा नाद तत्त्व उनकी सम्पूर्ण कृतियों में विद्यमान है। इसी प्रकार उनका कोई भी बिम्ब आपस में भी मेल नहीं खाता। बल्कि स्वतन्त्र अस्तित्व पर खरा उतरता है। इसीलिए टैगोर कला आधुनिक से आधुनिक सृजन है; साथ ही आध्यात्म भी सम रूप में समाहित है। देवी प्रसाद जी के द्वारा कहे गए टैगोर के लिए यह शब्द ''रवीन्द्र नाथ जितना अपने काव्य निर्माण में संयम और स्वानुशासन से बँधे रहते थे, ऐसा लगता है कि चित्र बनाते समय वे उतना ही स्वच्छन्दता की चरम सीमा तक घूमे आते थे। उनके इस काम में न कोई कायदा था, न कोई कानून केवल छन्द जगत रेखा का लय के साथ नृत्य।'' यह सर्वथा सत्य है कि जब छन्द जगत् उन्मुक्त होकर रेखाओं के साथ लयबद्ध हो जाता है तब सत्य का दर्शन स्वतः झूमने लगता है और कृतियाँ शाश्वत् सत्य से भर उठती हैं।

(चित्र सं.-3)

रवीन्द्र नाथ टैगोर स्वयं चित्रकला की प्रेरणा के विषय में लिखते है– ''जब मैंने आलेखन आरम्भ, किया, मेरे मानस में एक अद्‌भुत परिवर्तन आया और मैं शाखा, फूलों और पत्रों में विचित्र-विचित्र आकृतियाँ देखने लगा जैसा कि मैंने कभी भी अनुभव नहीं किया था। इससे पहले मैंने केवल यहीं देखा था कि बसन्त आगमन पर पेड़ किस प्रकार फूलों और फलों के अत्याधिक भार से झुक जाता है। लेकिन, इन बार वस्तुओं के निहारने में नवीनता थी; एक भिन्न दृष्टिकोण था। नवीन दर्शन और दर्शन में अनुपमता किसने भर दी। यह कला का उदय था।''

उपर्युक्त पंक्तियों में जिस नवीन कला उदय की स्वयं टैगोर बात कर रहे हैं। विभिन्न विद्वानों ने प्रकृति के इसी नित, नूतन बदले स्वरूप को अपने अन्तस के सौन्दर्य से भकर अंकित करने की बात की है। टैगौर का रचना संसार इसी बिन्दु पर आधारित है, वह प्रकृति के हर क्षण को अपने अन्तस से रसमय करके फलक पर प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए उनका हर चित्र नवीन दृष्टि के साथ आधुनिक के ताने-बाने से आच्छादित होता हुआ सृजन के उस पार तक ले जाता हुआ दिखाई देता है, जहाँ अन्धकार के बावजूद सर्वत्र प्रकाश की प्रकाश का नूर फैला हुआ दिखाई देता है। उनकी कला दृष्टि नवीन थी तथा कला को वह सजीव और निरन्तर परिवर्तन शील मानते थे। उनका हर बिम्ब, क्षितिज पार ले जाकर विचारों की तलहटी में डुबोता जाता है और हर दर्शक को नवीन अनुभूति का अहसान कराता है।

(चित्र सं.-4)

बन्धन मुक्त टैगोर का मन हमेशा सहज सृजन की अन्तरर्दृष्टि में ही रमा रहता था। उन्हें सदैव वात्सल्य से प्रौढ़ तक प्रकृति का ही सानिध्य मिला, तभी तो मन विभिन्न रूपकारों के लिए कुलाँचें भरता हुआ गद्‌गद् हो, प्रकृति के साथ एकाकार हो नृत्य करता था; जिसका प्रमाण उनका रचना संसार ही है। प्रकृति के भावरूपी मण्डप में सद्यः कलाकार, रचनाकार की तरह प्रकृति से उठे उस नाद के अदृश्य आकारों और भावों को आत्मसात् कर रेखाओं को रंगों से भिगो-भिगोकर फलक पर नवीन कृतियों का सृजन करते चले गए। उनका कोई भी बिम्ब आपस में भी मेल नहीं खाता; बल्कि

स्वतन्त्र अस्तित्व की अपनी एक सत्ता होती है। इसीलिए, टैगोर कला अत्याधुनिक बिम्बों से लबालब हैं अर्थात् टेगौर के मानस में समाहित अद्‌भुत आकारों और रूपाकारों ने सृजन के उन सृजन के उन अदृश्य पलों को रंग-रेखाओं में ऐसे सहेजा कि सम्पूर्ण विश्व में आध्यात्मिक शिखर के अद्‌भुत चित्रकार के रूप में प्रतिष्ठित हुए। टैगोर के रचना संसार में आध्यात्मिक शिखर का नाद स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

(चित्र सं.-5)

(चित्र सं.-6)

जिस प्रकार वेदों के सृजन में जंगल का प्राकृतिक कोलाहल आध्यात्मिक लालित्य के रूप में समाहित है, उसी प्रकार टैगोर की कला में जंगल का प्राकृतिक कोलाहल भी आध्यात्मिक लालित्य के रूप में समाहित है; जिसकी अभिव्यक्ति टैगोर ने पेन, स्याही और रंगों से फलक को अद्‌भुत ताने-बाने से भर दिया था ''आधुनिक कला का यह प्रयोग कला के और भावों के क्षेत्र में नई जाग्रति उपस्थित करता है।'' टैगौर के अजन्मे बिम्ब एक ऐसी भावभूति पर ही पैदा हुए, जहाँ आध्यात्म कला की कसौटी पर खरा उतरता प्रतीत होता है।

टैगोर की अन्तस चेतना का आधार प्रकृति ही थी, प्रकृति की अतल गहराइयों में जाकर टैगोर मानस के अद्‌भुत बिम्बों को नवीन परिधानों में समेटा हैं अर्थात् प्राकृतिक बिम्बों का हू-ब-हू चित्रण नहीं किया है। श्री कुमार शील जी ने कहा है कि 'प्रकृति की नकल मात्र करना ही निर्माण नहीं है, निर्माण तो तभी हो सकता है, जब नए-नए रूपों का निर्माण किया जाए, ऐसी आकृतियों की कल्पना की जाए, जिसका संसार में अस्तित्व ही न हो। इसी के द्वारा कलाकार की कल्पना की उड़ान का माप और उसकी रचनात्मक शक्ति का ज्ञान होता है।'' टैगोर की रचनात्मक और कल्पनात्मक शक्ति का ज्ञान उनके द्वारा सृजित आध्यात्मिक अद्‌भुत बिम्बित जगत

को देखने से ही स्पष्ट होता है। साथ ही टैगोर ने कला में उन गुफा चित्रों नित-नूतन बदलते बिम्ब अंकित किए गए हैं। इसलिए टैगोर का हर बिम्ब आधुनिक है, क्योंकि टैगोर की कला में आध्यात्म के अनन्त नाद की सहज अन्तर्दृष्टि समाहित है। यही सहजता ही टैगोर की कृतियों का मूल तत्त्व तक है। टैगोर के चित्रों में सरलता, भावानुभूति, प्रकाश की दीप्ति और दर्शन की गहनता है, जिससे व्यक्ति विशेष भावाविभोर हुए नहीं रहता। इनके चित्रों में समाहित रसानुभूति की तीव्रता ही दर्शक को परमानन्द की प्राप्ति कराती है। मॉडल रिव्यू जनवरी 1931 की पत्रिका में दिए गए साक्षात्कार से यह स्पष्ट होता है कि टैगोर प्रथम श्रेणी के चित्रकार हैं और हर नवीन चित्र, दर्शकों को नवीन प्रभाव से रू-ब-रू कराता है। अर्थात् उनका हर चित्र आधुनिक का सृजन करता चलता है।

(चित्र सं.-7)

(चित्र सं.-8)

टैगोर ने अन्तस के उजाले को अपने चित्रों में सहजता से पिरोया है। यह तो स्पष्ट ही है कि उनको चित्रण की सौन्दर्य दृष्टि दशकों से मिल रही थी, किन्तु शब्दों का वर्चस्व इतना था कि रेखाओं से चित्रण होते-होते शब्द भावों में समाहित हो काव्य रूप में अभिव्यक्ति हो जाता था; किन्तु रेखाओं ने फिर भी टैगोर के अन्तस में व्याप्त अदृश्य बिम्बों के ताने-बाने को सहेजे रखा है और भावभूमि के हरा-भरा होते ही अद्‌भुत बिम्बों के साथ ''चित्रकला में मनुष्य मन में अँधेरे-उजाले कोनों को भेदते हुए एक ऐसा चित्र संसार हमें सौंपते हैं, जिसके माध्यम से हम कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष चेहरे देखते हैं, जिनमें विचित्र भंगिमाएँ व मुद्राएँ है, और कुछ चित्र-विचित्र जन्तु फूल, दृश्य आदि बार-बार अपनी ओर खींचते हुए से प्रतीत होते हैं अर्थात् जहाँ लय और ताल शब्दातीत से परे परमानन्द-सी प्रतीत होती हैं। उनकी चित्र भाषा में एक गहरी अपील हैं। गहरी सृजनात्मकता—अपनी चित्र भाषा के कारण भी रवीन्द्र नाथ के बिम्ब, छवियाँ विश्वकला की बिरादरी में सहज ही शामिल हो जाते हैं।'' मेरी दृष्टि में यहाँ

आधुनिकता की ही बात कहीं जा रही है; क्योंकि टैगोर कला आधुनिक कला के उस परिदृश्य का हिस्सा प्रतीत होती है। जहाँ से व्यक्ति बिना सीखे हो बिम्बों का अद्‌भुत अम्बार लगाता चला गया है। उस चित्रण में रेखाओं का लास्य है, तो शिव का ताण्डव भी हैं। अद्‌भुत चेहरों की भयावह स्थितियाँ हैं, तो मातृत्व भी है। अजन्मे पक्षी, जीव जन्तु हैं तो अद्‌भुत पेड़-पौधे हैं। सभी में छाया प्रकाश और गति का एक दैवीय रूप दिखाई देता है। यही टैगोर का छंदमय, दयापूर्ण अन्तिम रूप था। वहीं उनकी कला की प्रारम्भिक अवस्था थी। ऐसे सहज बिम्ब अपनी कृतियों में पिरोए हैं, जो हमें पुनः आदिम मानव की गत्यात्मक रेखाओं की याद दिलाते हुए परमानन्द तक ले जाते हैं। ''उनकी कला में बड़ी उन्मुक्ता थी। उनकी कला का क्षेत्र बहुत विस्तृत था।'' इस प्रकार टैगोर कला आध्यात्मिक अन्तस नाद है, जो सम्पूर्ण विश्व फलक पर विद्यमान है।

•

सन्दर्भ

1. शास्त्री, रामप्रताप त्रिपाठी, कला अंक, सम्मेलन पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (इलाहाबाद)
2. विपाशा, हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका, वर्ष 28, अंक-159, जुलाई-अगस्त 2012, आज की दुनिया में रवीन्द्रनाथ, ले. प्रयाग शुक्ल।
3. डिस्कवर इण्डिया, भारत की सचित्र भाषिक पत्रिका मई 1998, भाग-1, अंक-5, भारतीय कला, का पुनरुत्थान, ले. पूनम सक्सेना, उर्मिला डोंगरे।
4. ठाकुर रवीन्द्रनाथ, शिक्षा और चित्रकला, ले. देवी प्रसाद, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, ए-5, ग्रीनपार्क, नई दिल्ली-1100161
5. शर्मा हरद्वारीलाल, काव्यालोचन में सौन्दर्य दृष्टि, प्रथम संस्करण—1987, साहित्य सहकार, ई-10/4, कृष्णनगर, दिल्ली-110051
6. जिस पुस्तक से चित्र लिए गए हैं—
   Robinson Andrew,
   The Art of Ravindra Nath Tagore,
   Frword by-Ray Satyjit

मन के स्तर पर स्वीकृति द्वारा ही सम्भव है वास्तविक अनुकूलन

सीताराम गुप्ता*

आज ब्रिटेन, अमेरिका तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण देशों में अनेक भारतीय आर्थिक अथवा सामाजिक दृष्टि से बहुत उच्च स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इसका कारण मात्र उनकी योग्यता और अध्यवसाय नहीं अपितु उन देशों के प्रति पूर्ण समर्पण व वहाँ की व्यवस्था के प्रति पूर्ण स्वीकृति भी है तथा साथ ही उन देशों की अपने देश के नागरिक के रूप में उनकी पूर्ण सुरक्षा तथा सहयोग भी। यह तभी सम्भव है, जब परिवेश के प्रति अपेक्षित सामंजस्य मन के स्तर पर हो केवल बाहरी तौर पर नहीं।

जो प्राणी स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल नहीं ढाल पाते, उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यहाँ परिस्थितियों से तात्पर्य है भौगोलिक परिस्थितियाँ। परिवर्तन सृष्टि का नियम है, जो सारे ब्रह्माण्ड में विद्यमान है। हमारी पृथ्वी भी इस नियम से अछूती नहीं है। इस धरती पर इसके अस्तित्व से आज तक न जाने कितने परिवर्तन आए हैं और आते रहेंगे। इसी धरती पर एक जमाने में डायनासोर जैसे विशालकाय जीव भी इस धरती से लुप्त हो गए। उनके लुप्त होने का कारण उनका अंधाधुन्ध शिकार नहीं, अपितु धरती पर हुआ परिवर्तन है। धरती पर हुए जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों के अनुसार वे स्वयं को बदल नहीं पाए और समाप्त हो गए।

डार्विन का सिद्धान्त भी यही सिद्ध करता है कि इस धरती पर जो भी प्राणी अपने आपको इसकी जलवायु और अन्य परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेगा वही बच पाएगा। ''सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट''। जो फिट होगा बचा रहेगा अन्यथा नष्ट हो जाएगा। मनुष्य के सम्बन्ध में भी यह बात बिलकुल ठीक बैठती है। यदि

ए.डी. 106-सी, पीतमपुरा, दिल्ली-110034, फोन नं. 09555622323
Email : srgupta54@yahoo.co.in

मनुष्य भी अपने परिवेश के अनुसार ढल नहीं पाएगा, तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाएगा, तो उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाएगा और यदि बचा भी रहा, तो उसका जीवन दूभर हो जाएगा। यदि आपने उस स्थान राज्य अथवा राष्ट्र को, जहाँ आप रह रहे हैं, मन के स्तर पर स्वीकार नहीं किया, तो कभी भी आपके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द हो सकता है। इतिहास इस बात का गवाह है।

यहाँ मुसलमान भी आए और डच, पुर्तगाली, फ्राँसीसी और अंग्रेज भी आए लेकिन सबसे अधिक विरोध अंग्रेजों का ही क्यों हुआ और उन्हें खदेड़कर बाहर क्यों कर दिया गया? जहाँ तक आम आदमी पर अत्याचार व शोष की बात है किसी ने भी कसर नहीं छोड़ी। मुगलों को भारतभूति पर अपेक्षाकृत सहजता से क्यों स्वीकार किया गया और अंग्रेजों के प्रति रोष क्यों बढ़ता गया? मुगलों की स्वीकार्यता का प्रमुख कारण रहा है—उनका भारतीय संस्कृति में रच-बस जाना। यहाँ के रीति-रिवाज अपनाना तथा विवाह सम्बन्ध कायम करना। अंग्रेजों को स्वीकार न करने का कारण रहा है, उनका भारतीय संस्कृति से तादात्म्य का अभाव। इसके विपरीत कुछ अंग्रेज जिन्होंने भारतभूमि को अपनी कर्मभूमि के साथ-साथ मातृभूमि भी स्वीकार कर लिया आज भी हमारी श्रद्धा और प्रेम के पात्र हैं।

आज तो हमारे देश के अन्दर ही कई राज्यों में दूसरे राज्यों के लोगों के रहने और काम करने खिलाफ आवाजें बुलन्द हो रही हैं। कहीं न कहीं इसके मूल में भी असहिष्णुता के साथ-साथ अनुकूलन और स्वीकृति का अभाव भी दृष्टिगोचर होता है। अनुकूलन और स्वीकृति के अभाव में ही अलगाव की समस्या उत्पन्न हो रही है। प्रश्न उठता है कि मनुष्य कैसे स्वयं का अनुकूलन करे, स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल ढाले?

मनुष्य कैसे स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल ढाले?

मनुष्य का अनुकूलन मात्र भौगोलिक परिस्थितियों का अनुकूलन नहीं है। अत्यन्त विषम भौगोलिक परिस्थितियों में भी मनुष्य अपना बचाव कर लेता है। मनुष्य अनके सभ्यताओं और संस्कृतियों के विकासक्रम से गुजरा है। हर व्यक्ति तथा हर समाज की एक सांस्कृतिक विरासत होती है, जो उसके परिवेश का निर्माण करती है। मनुष्य का यह परिवेश सदा से यूनीवर्सल या वैश्विक नहीं रहा है। यह काल-सापेक्ष होने के साथ-साथ स्थान-सापेक्ष भी रहा है। आज इन परिस्थितियों में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। स्थान-सापेक्षता की सीमाएँ तेजी से बदल रही हैं। इस तेजी से परिवर्तित हो रहे स्थान-सापेक्ष के कारण मनुष्य का अनुकूलन यही है कि वह जहाँ भी जाए और स्थायी या अस्थायी तौर पर निवास करे, उस स्थान की विशेषताओं को समझकर उन्हें स्वीकार कर उन्हें आत्मसात् करे। उनके विरोध का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

जैसा देश वैसा भेषः

एक कहावत है कि ''जैसा देश वैसा भेष'' अर्थात् ''वाइल इन रोम डू एज द रोमंस डू''। हम अवसरानुकूल कपड़े पहनते हैं; अवसरानुकूल भोजन करते हैं तथा अवसरानुकूल ही प्रत्येक व्यवहार करते हैं। यही अवसरानुकूलता हमारे परिवेश के अनुरूप होने का प्रमाण है। लेकिन, यदि हमारा परिवेश बदलता है या हम किन्हीं कारणों से परिवेश बदलने को विवश हैं, तो किसी स्थिति में क्या उपाए है? यहाँ आवश्यकता है परिवेशानुकूलता की। स्थान या परिस्थिति विशेष के अनुसार जीवनशैली में बदलाव की।

वास्तविक अनुकूलन क्या है?

मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर अथवा एक परिवेश से दूसरे परिवेश में अन्तरण करता ही रहता है। व्यक्ति जहाँ जाता है, वहाँ का होकर रह जाता है। वहाँ की भाषा-बोली, भोजन-वस्त्र, साहित्य-कला-संस्कृति सब अपना लेता है। यह एक परिवर्तन ही है। यह परिवर्तन ही अनुकूलन है। लेकिन, हर व्यक्ति के लिए इतना बदलना सम्भव नहीं, तो फिर उसका अनुकूलन कैसे हो? जब व्यक्ति कहीं अन्यत्र जाता है और वहाँ के परिवेश के अनुरूप व्यवहार करता है, तो यह उसका बाह्य परिवर्तन हुआ; लेकिन जब वह उस परिवेश को स्वीकार कर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तो यह उसका आन्तरिक परिवर्तन है; जो मन के स्तर पर होता है। यदि मन में स्वीकृति नहीं है, तो बाह्य परिवर्तन स्वीकार कर लेने के बावजूद एक द्वन्द्व की स्थिति निरन्तर बनी रहती है और द्वन्द्व ही सभी समस्याओं का मूल है। निर्द्वन्द्व होना ही वास्तविक अनुकूलन है।

कुछ लोग काम-धन्धे के सिलसिले में एक जगह से दूसरी जगह जाते रहते हैं। रोज नए-नए स्थानों को देखने और नए-नए लोगों से परिचित होने का मौका मिलता है। इनमें से कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो नए स्थान तथा नए लोगों की विशेषताओं का ही गुणगान करते रहते हैं, जबकि कुछ ऐसे भी जो जहाँ भी जाते हैं, उस जगह और वहाँ के लोगों की कमियाँ और कमजोरियाँ ही गिनवाते रहते हैं। पहले प्रकार के व्यक्ति परिवर्तन को स्वीकार करने वाले होते हैं और शीघ्र नए परिवेश के अनुसार ढल जाते हैं, अनुकूलित हो जाते हैं, जबकि दूसरे प्रकार के व्यक्ति नए परिवेश या परिवर्तन के अनुसार अपने को ढाल न पाने के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करने को बाध्य होते हैं।

कई लोग अनुकूलन के बावजूद अलग क्यों दिखलाई पड़ते है?

कई लोग कई पीढ़ियों से अपने मूल स्थान से अन्यत्र कहीं रह रहे हैं। उनकी भाषा-बोली, रहन-सहन का तरीका खान-पान तथा दूसरी अनेक चीजें बदल गई हैं। लेकिन, वे आज भी वहाँ के लोगों से अलग-अलग दिखलाई पड़ते हैं। स्थानीय लोगों

से एकाकार नहीं हो पाते। इसका कारण है उनका परिवर्तन मात्र बाह्य स्तर तक सीमित रहा है और ये परिवर्तन भी उनकी विवशता ही थी। उन्होंने मन के स्तर पर अपने को परिवर्तित नहीं किया। परिवर्तित होते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते। वास्तविक अनुकूलन के मार्ग में यही सबसे बड़ी विडम्बना है।

वास्तविक अनुकूलन का उपाय :

द्वन्द्व की समाप्ति सबसे महत्त्वपूर्ण उपचार है। पनिवर्तन को मन से स्वीकार कीजिए। जिस जगह रह रहे हैं, जिस आबोहवा का सेवन कर रहे हैं, जिस स्थान का अन्न-जल ग्रहण कर रहे हैं, जिस स्थान के नैसर्गिक सौन्दर्य अथवा आर्थिक सुख-सुविधाओं का उपभोग कर रहे हैं, जिस स्थान के कारण आपकी रोटी-रोजी का जुगाड़ हो रहा है; उसके प्रति हमेशा कृतज्ञता की भावना रहे। देश में कहीं भी रह रहे हैं, तो राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत रहें। विदेशों में हैं तो राष्ट्रीयता से भी ऊपर उठकर सिर्फ मानवता की भावना को वहन करें। जिस स्थान पर रहें उसके प्रति पूर्ण समर्पण और आस्था से रहें। उसे मातृभूमि से बढ़कर सम्मान दें। जन्म देने वाली माँ से पालन-पोषण करने वाली माँ का स्थान कभी कम नहीं होता।

यदि हमारी कर्मभूमि हमारी वजह से चर्चित होती है, तो क्या हमारी मातृभूमि का गौरव नहीं बढ़ेगा? जहाँ हम रहते हैं वहाँ के सामाजिक जीवन की उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए। इसी प्रकार जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में पर्याप्त स्वीकृति ही हमें उस परिवेश के प्रति पूर्ण अनुकूलता प्रदान करती है। भारतभूमि तो इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। यहाँ विश्व के हर कोने से हर धर्म और जाति के लोग आए और पूर्ण भारतीय हो गए। पारसी समुदाय के लोग इसका अच्छा उदाहरण हैं। वहाँ के मुसलमानों के जुल्मों से परेशान होकर वे ईरान छोड़कर भारत चले आए थे। भारत ने उन्हें पनाह दी और उन्होंने भी भारत को अपना देश माना।

अपने आगमन के वक्त से ही पारसी समुदाय ने इस देश को बहुत कुछ दिया है। टाटा और गोदरेज ने आधुनिक उद्योग लगाने में महारत हासिल की। उन्होंने इस समाज से जितना प्राप्त किया, उससे कहीं अधिक उसे लौटाया। आजादी के आन्दोलन में भी उन्होंने कम महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई। यूरोप में पहली बार हिन्दुस्तानी झण्डा फहराने वाली भीकाजी कामा एक पारसी महिला ही थीं। दादाभाई नौरोजी के योगदान को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। होमी भाभा ने देश को एटमी ताकत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। हमारे देश में नानी पालखीवाला, सोली सोराबजी, फली नरीमन वगैरह ज्यादातर बड़े वकील पारसी ही हैं। बॉलीवुड में भी पारसियों की कम धूम नहीं। यहीं पारसी समुदाय का पूर्ण अनुकूलन है और इसी अनुकूलन के कारण वे न केवल उन्नति के शिखर पर पहुँचे, अपितु आज भारतीयता के अभिन्न अंग भी बन चुके हैं।

आज ब्रिटेन, अमेरिका तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण देशों में अनेक भारतीय आर्थिक अथवा सामाजिक दृष्टि से बहुत उच्च स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इसका कारण मात्र उनकी योग्यता और अध्यवसाय नहीं, अपितु उन देशों के प्रति पूर्ण समर्पण व वहाँ की व्यवस्था के प्रति पूर्ण स्वीकृति भी है तथा साथ ही उन देशों की अपने देश के नागारिक के रूप में उनकी पूर्ण सुरक्षा तथा सहयोग भी। यह तभी सम्भव है, जब परिवेश के प्रति अपेक्षित सामंजस्य मन के स्तर पर हो; केवल बाहरी तौर पर नहीं।

•

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँः

पुस्तकें :

मेरे मनभावन गीत, संपादकः डॉ. देवेन्द्र आर्य, प्रथम संस्करणः 2018, प्रकाशकः अभिव्यक्ति प्रकाशन, 29/61 गली न. 11, विश्वास नगर, दिल्ली-110032; पृष्ठः 154, मूल्यः 395/- रुपये।

पत्रिकाएँः

REVOLUTIONARY DEMOCRACY, Vol. XXIV, No. 2 April, 2019, Published by Vijay Singh from K-67, FF, Jangpura Extension, New Delhi-110014; pages: 204, Price: 70/-.

बरोह, साहित्यिक त्रैमासिकी, मार्च 2019, संपादकः शुभदर्शन, प्रकाशकः हिन्दी प्रचार-प्रसार सोसायटी, 7-फ्रेंडस कॉलोनी, पीछे सेक्रेड हार्ट स्कूल, मजीठा रोड, अमृतसर-143001; पृठः 106, मूल्यः 200/- रुपये वार्षिक।

सामयिक सरस्वती, शब्दों का उत्सव वर्ष 5 अंक 17, अप्रैल-जून, 2019, संपादकः महेश भारद्वाज, प्रकाशकः सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाा मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; पृष्ठः 96, मूल्यः 50/- रुपये

आर्य, वैदिक सभ्यता और इतिहास

रवि शंकर*

यह एक विडम्बना ही कही जा सकती है कि भारत का आज का इतिहास यूरोपीय विद्वानों की कल्पनाओं के आधार पर लिखा और पढ़ाया जाता है। उदाहरण के लिए मैक्समूलर ने एक काल्पनिक कालखण्ड निर्धारित किया कि वेदों की रचना ईसा से 1500 वर्ष पहले हुई होगी। दुःख और हैरानी की बात यह है कि उसके बाद से ढेरों ऐतिहासिक अनुसंधानों और भारतीय विद्वानों द्वारा पर्याप्त से अधिक प्रमाणों के दिए जाने के बाद भी वह काल्पनिक तथ्य अभी तक ऐतिहासिक तथ्य की तरह पूरे भारत में पढ़ाया जाता है। ठीक इसी प्रकार सिन्धु घाटी सभ्यता भी है। जब मैक्समूलर ने वेदों का काल निर्धारित किया था, तब सिन्धु घाटी सभ्यता की खोज नहीं हुई थी। उस इलाके में उत्खनन काफ़ी बाद में प्रारम्भ हुआ। परन्तु वहाँ मिले साक्ष्यों के आधार पर यह सरलता से कहा सकता था कि वेदों का काल सिन्धु घाटी सभ्यता के पहले का है परन्तु हुआ इसका उलटा। कहा गया कि सिन्धु घाटी सभ्यता आर्यों से पहले की भारत की बसावट थी। जिसे मध्य एशिया से आए आर्यों ने आक्रमण करके नष्ट कर दिया और बाद में वेदों की रचना की। इस प्रकार वेदों के 1500 वर्ष ईसा पूर्व में रचे जाने के एक झूठ को साबित करने के लिए आर्यों के आक्रमण का एक और झूठ रचा गया।

ऐसी परिस्थिति में दिल्ली विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र के प्रोफेसर रहे डॉ. कृपाशंकर सिंह की पुस्तक आर्य, ऋग्वेद और भारतीय सभ्यता एक नया विकल्प प्रस्तुत करती है। पुस्तक की प्रस्तावना में ही प्रो. सिंह लिखते हैं, 'हमने इस पुस्तक

* रवि शंकर, कार्यकारी सम्पादक, भारतीय धरोहर, नई दिल्ली-110055

समीक्षक : रवि शंकर, पुस्तक का नाम : आर्य, ऋग्वेद और भारतीय सभ्यता, मूल्य : 1100 रुपए मात्र, पृष्ठ संख्या : 640, लेखक का नाम : डॉ. कृपा शंकर सिंह, प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

में, जैसा कि अभी कहा गया, ऋग्वेद को सिन्धु-सरस्वती सभ्यता से पूर्ववर्ती माना है।' अपने इस कथन में प्रो. सिंह दो बातें स्थापित करते हैं, पहली यह कि सिन्धु घाटी सभ्यता वास्तव में सरस्वती घाटी सभ्यता है और वेद उससे प्राचीन हैं, यह सभ्यता वेदों के आधार पर ही विकसित हुई थी।

लेखक ने अपनी इस बात को पर्याप्त से अधिक प्रमाणों से पुष्ट किया है। उन्होंने यह बात मैक्समूलर और विलियम जोन्स की भाँति हवाई कल्पना करते हुए नहीं लिख दी। इसके लिए उन्होंने ऋग्वेद का गम्भीर अध्ययन किया और कथित सिन्धु घाटी सभ्यता के उत्खनन से मिले पुरातात्त्विक प्रमाणों की सघन समीक्षा की है। सिन्धु घाटी सभ्यता को सरस्वती घाटी सभ्यता कहने के कारणों को बताते हुए वे लिखते हैं। 'ऐसी स्थिति में इसे सिन्धु-सरस्वती सभ्यता कहा जा सकता है। सरस्वती नाम इसलिए कि इस सभ्यता का विस्तार सिन्धु से पश्चिम की अपेक्षा उसके पूर्व की ओर अधिक है।' सरस्वती नाम देकर प्रो. सिंह ने इस सभ्यता को न केवल एक नई पहचान दी है। बल्कि उन्होंने इसके द्वारा अनेक मिथिकों को भी तोड़ा है। आमतौर पर सरस्वती नदी को वैदिककालीन नदी माना जाता है। यदि यह सरस्वती घाटी सभ्यता मान ली जाती है, तो स्वाभाविक रूप से यह सभ्यता वैदिककालीन साबित हो जाएगी। साथ ही अभी तक के लिखित इतिहास में सरस्वती नदी की चर्चा कम ही होती है। इस नामकरण से इतिहास में सरस्वती नदी को भी उसका अपेक्षित स्थान मिल जाएगा। प्रो. सिंह द्वारा किया गया यह नामकरण भारतीय विश्वविद्यालयों की लीक से हटकर है।

लेखक ने सिन्धु घाटी सभ्यता के नए नामकरण के बाद उसे वैदिककालीन साबित करने के लिए ऋग्वेद की गहन समीक्षा की है। ऋग्वेद का उनका अध्ययन काफ़ी प्रशंसनीय है। हालाँकि महर्षि दयानन्द, योगी अरविन्द, करपात्री जी महाराज जैसे भारतीय परम्परा के विद्वानों की भाँति उन्होंने यह तो स्वीकार नहीं किया है कि ऋग्वेद सृष्टि के आदि में प्रकट हुए और इस कारण उसमें मानव का इतिहास नहीं है। इसके विपरीत उन्होंने ऋग्वेद में आए नहुष, पुरुरवा, ययाति, मान्धाता आदि नामों को आधिदैविक न मानकर ऐतिहासिक ही माना है। उन्होंने ऋग्वेद के आधार पर भारत के लगभग दस हजार वर्ष का इतिहास लिखने का प्रयास किया है। इस प्रकार उन्होंने भारत के वर्तमान अकादमिक जगत में मान्य परम्परा का ही पालन किया है, जो कि वेदों में इतिहास का होना स्वीकार करती है। परन्तु उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं से ऋग्वेद का गम्भीर अध्ययन किया है। वैदिक प्रमाणों के लिए वे किसी विदेशी लेखक या भाष्यकार पर निर्भर नहीं हैं। वेदमन्त्रों का उनका अध्ययन अपना है और उसके अर्थों को उन्होंने अपनी अनुसंधानात्मक भाषाविज्ञानी दृष्टि से देखने और जानने का अभिनव तथा अभिनन्दनीय प्रयास किया है।

लेखक ने आर्य और दस्यु के विवाद पर भी अपना मत प्रस्तुत किया है और साबित किया है कि दस्यु भी आर्य ही थे। उन्होंने अनेक वेदमन्त्रों को उद्धृत करते हुए यह बात स्थापित की है। इस प्रकार इस पुस्तक को हम भारतीय अकादमिक जगत के लिए एक क्रान्तिकारी पहल के रूप में देख सकते हैं, परन्तु यदि हम भारतीय इतिहास लेखन के ग़ैर-अकादमिक भारतीय प्रयासों की बात करें, तो उसमें इससे कोई विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती। वैदिक सम्पत्ति में पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने भली-भाँति यह स्थापित किया है कि वेदों में आए मानुषी नाम वास्तव में भारतीय इतिहास के नाम नहीं हैं। वे खगोलीय घटनाओं के वाचक हैं। यह अलग बात है कि भारत में नदी-पर्वतों से लेकर राजाओं और नगरों तक के नाम वेदों के शब्दों पर ही रखे गए। इस बात को और भी कई वैदिक विद्वानों ने स्थापित किया है। भारतीय अकादमिक जगत की समस्या यह है कि यूरोपीय औपनिवेशिक सोच से वे बाहर निकलकर नहीं सोच पाते। वे केवल यूरोपीय परम्परा का ही अनुगमन मात्र करते हैं। चूँकि यूरोपीय परम्परा वेदों में इतिहास का वर्णन मान कर चलती है। इसलिए भारतीय अकादमिक जगत भी वेदों में इतिहास मानकर चलता है। भारतीय अकादमिक जगत के लिए यह पुस्तक निश्चित रूप से क्रान्तिकारी है, परन्तु भारतीय अकादमिक जगत उनके इस प्रयास को कोई स्थान देगा, इसकी सँभावना दिखती नहीं है।

पुस्तक की भाषा काफी सरल और सुग्राह्य है। ऋग्वेद के सन्दर्भों को इतने प्रयासपूर्वक एकत्र किया गया है कि यदि हम वेदों में इतिहास को न मानें तो भी इन सन्दर्भों का भरपूर उपयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए लेखक ने वेदों में जल के स्रोतों, जलयान आदि के वर्णन पर जो सन्दर्भ दिए हैं, वह काफ़ी उपयोगी है। कृषि, उद्योग, विभिन्न विज्ञान सम्बन्धी ऐसे विवरण और भी बहुत सारे हैं। लेखक ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक ऐसे ढेर संदर्भों को एकत्र किया है, जिनसे वेदों में भरे ज्ञान भण्डार का पता चलता है। वेदों के एक सामान्य पाठक के लिए किसी वेदभाष्य को पढ़ना सरल नहीं होता। परन्तु, वह कम से कम ऋग्वेद के लिए इस पुस्तक को पढ़ सकता है और वेदों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

•

पाठकीय प्रतिक्रिया

● मुझे चिन्तन-सृजन पत्रिका, श्रीमति निरुपमा राय, पूर्णियाँ के सौजन्य से, पढ़ने का मौका मिलता रहा है। पत्रिका उच्च-स्तर एवं रचना धर्मिता प्रशंसनीय है जो हमारे जैसे अध्येताओं को लेखन'कार्य के लिए प्रेरित करती है। इस श्रृखला में मेरे शोध-पूर्ण आलेख, 'भीष्म प्रतिज्ञा औा द्रोपदी का चीर-हरण का प्रकाशन आपकी पत्रिका में प्रार्थित है।

प्रसून चौधरी, प्रोफेसर कॉलनी, पूर्णियाँ-854301 (बिहार)

● डी. एन. प्रसाद के लेख 'गाँधी विचार पाठयक्रम संरचना' के सम्बन्ध में निवेदन है कि मैं पिछले 10-11 वर्षों से गाँधीवादियों को और गाँधी-संस्थाओं को लिखता रहा हूँ कि स्कूली स्तर पर कक्षा 9 से लेकर कक्षा 11 तक बच्चों को गाँधी के बारे में सही सही बतलाया जाय। 'सिद्ध' में रहते हुए मैंने अनेक बार पवन गुप्तजी को ऐसी पुस्तक लिखने के लिए आग्रह किया था और वे सहमत भी हैं। कुमार प्रशांत (गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान), दिवंगत अनुपम मिश्र, रामचन्द्र राही, सर्व सेवा संध, गाँधी स्मृति और दर्शन समिति, सेवाग्राम वर्धा,पत्रिकाओं तथा गाँधी मार्ग, सत्याग्रह मीमांसा आदि को लिखता रहा हूँ कि आम छात्र-छात्राओं के मन में गाँधीजी की छवि ऐसी है कि कोई एक गाल में थप्पड़ मारे तो दूसरा कर दो। या मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी। परन्तु गाँधी की क्या ताकत है, कि वे मीरा बहन के अनुसार गाँधी तो आग के गोला थे, वे विनोबा की तरह ठण्डे न थे यह विद्यार्थी नहीं जानते। ऐसी लाचार गाँधी की तस्वीर बनाने के लिए स्वयं गाँधीवादी जिम्मेदार हैं। बहन जी ने एक लेख में लिखा था कि मसूरी में गाँधी की जो नयी मूर्ति लगी है, वह गाँधी की झुकी कमर, निर्वल, असहाय गाँधी जिसके घुटने मुडे हैं, गर्दन लटकी है, ऐसी छवि देते हैं।

किस प्रकार गाँधी इर्विन को 1930 मे पत्र लिखकर कहते हैं कि वे 5000 से अधिक भारतीयों के औसत आमदनी से ज्यादा रोजाना लेते हैं और उनका वेतन व भत्ते ब्रिटिश प्राइम मितिस्टर से भी ज्यादा है। या गाँधी जब ब्रिटेन सम्राट से मिलने जाते हैं तो कैसे उस प्रोटोकाल को अनदेखा करते हैं जो प्रायः राज प्रमुखों के लिए होता है। या गोलमेज सम्मेलन में अपने कपड़ों को लेकर वह सम्राट पर क्या व्यंग्य

करते हैं। गाँधी कहते हैं कि उन्हें तलवार चलानी आती है। नुकीली कटार को किसी व्यक्ति के पेट में भोंकना चाहूँ तो भौंक सकता हूँ तथा उसे उन्होंने त्याग दिया है। सेवाग्राम वर्धा में चांग काई शेख का मिलना भी मानों गाँधी को राष्ट्राध्यक्ष बना देता है।

गाँधी साहित्य के अध्येता और भी सैकड़ों उदाहरण जानते होंगे। उनको लेकर एक दौर से पुस्तिका तैयार हो और विभिन्न राज्यों में, उसे कक्षा 8 के लिए पाठयेतर पाठयक्रम में शमिल किया जाये तो बच्चे को गाँधी की सही पहचान बनाने में मिलेगी। यूँ भी भारत सरकार तो गाँधी के 150 वीं जन्म दिवस को शानो-शौकत के साथ मनाना ही चाहती है। मैं पिछले 11 वर्षों से मध्य प्रदेश मे रहता हूँ, पिछले दो वर्षों से मध्य प्रदेश शासन ने कक्षा 9 में अंग्रेजी में Supplementary Reader में गाँधी को शामिल किया है। पर सामग्री उत्साहजनक रही है। पसर नहीं मेरे सैकड़ों पत्र लिखने से या किसी और कारण से ऐसा हुआ है, पर समस्त गाँधीवादी जो विश्वविद्यालयों में बैठे मोटी तनखाह पाते हैं, या ऐसी गाँधीवादी संस्थाएँ को सरकारी अनुदान देती है, या पूर्णतः सरकारी संस्थाएँ - यथा गाँधी शान्ति और स्मृति समिति आदि कम से कम गाँधी की उस बात को तो मानें कि सिद्धान्तों की अपनी मर्यादा होती है। और गाँधीवादियों को गाँधी जी को सही परिप्रेक्ष्य में बच्चों को समझाने की नैतिक और सामाजिक जिम्मेदारी है।

लक्ष्मी नारायण मित्तल, एच/902 ओल्ड हाउसिंग
बोर्ड कॉलोनी, मुरैना-476001

●

केन्द्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्कः हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोनः 0562-2530684,
वेवसाइटः www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवतापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उेश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

■ शिक्षणपरक कार्यक्रमः (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवद्धनात्मक कार्यक्रम, (vi) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जंनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रमः (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकासः (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशनः हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथाअध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालयः भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयः हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँः ■ भारतीय सांस्क तिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षिणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेलः kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेलः nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in